जैनमित्रका तेरहवें वर्पका उपहार

नमः श्रीवीतरागाये

विद्वद्रत्नमाला.

प्रथम भाग ।

अर्थात्

संस्कृतके सात ग्रन्थकर्त्ताओंका परिचय ।

लेखक—देवरी निवासी नाथूराम प्रेमी ।

प्रकाशक—जैनमित्र कार्यालय, बम्बई ।

मुद्रक—
चिं. स. देवळे बम्बईवैभव प्रेस, बम्बई ।

अक्टूबर १९१२

प्रथमावृत्ति] ग्रन्थ नं० ४. [आठ आना.

PUBLISHER
SITALPRASAD BRAHMCHARI,
Editor
Jain-Mitra Karyalaya,
HIRABAG, GIRGAON, BOMBAY.

Printed by
C. S. DEOLE
at his Bombay Vaibhav Press,
1, Sadashiv Lane, Girgaon,
BOMBAY.

प्रस्तावना।

हमारा प्राचीन इतिहास बड़े ही अन्धकारमें पड़ा हुआ है। प्राचीनकालमें हमारे पूर्व पुरुष कैसे प्रतिभाशाली और कीर्तिशाली हो गये हैं, इसके जाननेके लिये आज हमारी सन्तानके पास कोई साधन नहीं है। आज तक संसारमें जिन जिन जातियोंने उन्नति की है, उन सबने प्रायः अपने प्राचीन इतिहास पढ़कर की है। अपनी जातिके प्राचीन गौरवका इतिहास पढ़कर मनुष्यके हृदयमें उसका अभिमान उत्पन्न होता है और उस अभिमानसे वह अपनी अवस्थाको सुधारनेका प्रयत्न करता है तथा अपने पुरुषाओंके चरित्रोंका अनुकरण करनेके लिये तत्पर होता है। इतिहाससे वह यह भी जान सकता है कि हमारी अवनति किन किन कारणोंसे हुई है और जब हम उन्नतशील थे तब ऐसे कौन कौन कारण मौजूद थे जिनसे हम उन्नतिके पथपर जा रहे थे। इस विषयके ज्ञानसे हम अपने उन्नतिके मार्गको सुगम कर सकते हैं। परन्तु खेद है कि उन्नतिके इस अपूर्व साधनसे जैनसन्तान वंचित हो रही है। उसके हृदयमें अपने पुरुषाओंका अभिमान उत्पन्न करनेके लिये और अपनी उन्नति अवनतिके कारण जाननेके लिये इस कमीको बहुत जल्दी पूरी करनेकी ज़रूरत है।

जैनियोंके इतिहासके मुख्य दो भाग हैं—एक तो ऋषभदेव भगवानसे लेकर अंतिम तीर्थंकर महावीर भगवानके निर्वाणतकका और दूसरा निर्वाणसे लेकर वर्तमान समय तकका। इनमेंसे पहला भाग तो हमारे पुराणग्रन्थोंमें शृंखलाबद्ध सुरक्षित है परन्तु दूसरा भाग बिलकुल अंधेरेमें है। इसी भागको शृंखलाबद्ध करके लिखनेकी

आवश्यकता है । इस दूसरे भागमें महावीर भगवानके निर्वाणके समय जैनधर्मकी क्या अवस्था थी, दूसरे कौन कौन धर्म थे, वे कैसी अवस्थामें थे, कौन कौन राजा जैनी थे, किन किन देशोंमें जैनधर्मका प्रचार था, जैनसाहित्य और मुनियोंका संघ किस अवस्थामें था, दूसरे धर्मोंपर उसका क्या प्रभाव पड़ा, पीछे कब तक जैनधर्मकी उन्नतिका काल रहा और कब उसकी अवनति आरंभ हुई, अवनति होनेके कारण क्या थे, संघभेद कब और क्यों हुए, साम्प्रदायिक भेद, उपभेद, गण, गच्छ, अन्वयादि कितने हुए किन कारणोंसे उनमें मतविभिन्नता हुई, किन किन भाषाओंमे जैनसाहित्य अवतीर्ण हुआ, और इस समय जैनधर्म जैन साहित्य और जैनजातिकी क्या अवस्था है, इत्यादि वातोंका समावेश होना चाहिए । इसका सम्पादन करना ऐतिहासिक तत्त्वोंके मर्मज्ञ और नाना भाषाओंके ज्ञाता विद्वानोंका कार्य है उसके लिये उपयुक्त साधनोंकी भी बहुत आवश्यकता है । इस लिये उसकी पूर्तिकी चर्चा करना मेरे लिये "छोटा मुंह बड़ी वात" की कहावतको चरितार्थ करना है । परन्तु इस भागके अन्तर्गत जो ग्रन्थ कर्त्ता विद्वानों और आचार्योंका इतिहास है, जैनधर्मके ग्रन्थोंका स्वाध्याय करते रहनेसे उसका थोड़ा बहुत परिचय मुझे होता रहता है और परिश्रम करनेसे उसके थोड़े बहुत साधन इधर उधरसे भी मिल जाते हैं, इस लिये मैंने उसके एक अंशकी पूर्ति करनेका यह प्रयत्न किया है । मुझे आशा है कि जबतक इस विषयका कोई अच्छा ग्रन्थ नहीं बना है, तबतक समाज एक अल्पज्ञकी इस छोटीसी भेंटको सस्नेह स्वीकार करनेकी उदारता दिखलायगा और यदि इसमें

कुछ ग्रहण करने योग्य होगा तो उसे ग्रहण करके मुझे उत्साहित करेगा ।

जैनियोंको जैसे इतिहासकी आवश्यकता है उसकी पूर्ति अभी नहीं होगी—धीरे २ समय पाकर होगी । अभी तो हमारे यहां इस विषयकी चर्चा ही शुरू हुई है । दश वीस वर्षमें जब हमारी इस विषयकी ओर पूर्ण अभिरुचि होगी, विद्वानोंके द्वारा इस विषयके सैकड़ों फुटकर लेख प्रकाशित हो लेंगे, अप्रकाशित और अप्राप्य ग्रन्थ छपकर प्रकाशित हो जावेंगे, उनका पठन पाठन होने लगेगा; तब कहीं किसी अच्छे विद्वानके द्वारा इसका संग्रह हो सकेगा । परन्तु इस विषयकी ओर समाजको अभीसे ध्यान देना चाहिए । यह बड़ी भारी प्रसन्नताकी बात है कि स्वर्गीय बाबू देवकुमारजीके जैन-सिद्धान्त-भवनकी ओरसे केवल ऐतिहासिक विषयोंकी चर्चा करनेवाला एक स्वतंत्र पत्र प्रकाशित होने लगा है । इसकी बड़ी भारी आवश्यकता थी । आशा है कि इस पत्रसे जैनइतिहासके उद्धारकार्यमें बहुत सहायता पहुंचेगी ।

लगभग चार वर्ष पहले मैंने जैनहितैषीमें विद्वद्रत्नमाला नामकी लेखमाला लिखनेका प्रारंभ किया था। उसमें अब तक जितने लेख प्रकाशित हुए थे, प्रायः उन सबका इस पुस्तकमें संग्रह कर दिया गया है। यह लेखमाला अभी चल रही है और यदि कोई विघ्न उपस्थित नहीं हुआ तो आगे भी चलती रहेगी । इस लिये अब तकका यह संग्रह प्रथम भागके नामसे प्रकाशित किया जाता है । हो सका तो आगामी वर्ष इसका दूसरा भाग भी प्रकाशित करनेका प्रयत्न किया जायगा । दूसरे भागमें महाकवि वादीभसिंह, पूज्यपाद, नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती, उमास्वामी, शुभचन्द्र, अकलंकभट्ट, कुन्दकुन्दाचार्य, स्वामिकार्तिकेय,

कवि हस्तिमल्ल, पुष्पदन्त, प्रभाचन्द्र आदि विद्वानोंका परिचय रहेगा।

जैनहितैषीमें उक्त लेखोंके प्रकाशित होनेके बाद जो नई नई बातें मालूम हुई हैं, वे सब इस पुस्तकमें शामिल कर दी गई हैं और जो बातें पहले भ्रमवश लिख दी गई थीं, उनका इसमें संशोधन कर दिया गया है। अतएव जो महाशय इन लेखोंको पहले जैनहितैषीमें पढ़ चुके हैं उनसे भी हमारा अनुरोध है कि वे एक बार इस संग्रहका स्वाध्याय अवश्य करें। उन्हें इसमें बहुत कुछ नवीनता मिलेगी। साधारण पाठकोंके लिये तो इसमें सब ही कुछ नवीन है। वे तो इसे मन लगाकर पढेंगेही।

जिस समय इस पुस्तकका छपाना प्रारंभ हुआ, उसी समय मैं बीमार हो गया, इसलिये इसका संशोधन जैसा चाहिए वैसा नहीं हो सका। आशा है कि पाठक इस दोषपर ध्यान न देकर पुस्तकमें यदि कुछ गुण हों तो केवल उन्हें ही ग्रहण करनेकी उदारता दिखलावेंगे।

बम्बई.
१५-१०-१२ } नाथूराम प्रेमी।

सूची ।

नमः सिद्धेभ्यः

विद्वद्रत्नमाला।

17

जिनसेन और गुणभद्राचार्य।

हम अपने पाठकोंको इस लेखमें ऐसे दो महात्माओंका परिचय कराते हैं, जिनका सिंहासन जैनियोंके संस्कृत साहित्यमें बहुत ही ऊंचा समझा जाता है और जिन्होंने अपनी अपूर्व कृतिको संसारमें छोड़कर अपना नाम युगयुगके लिये अमर कर दिया है। इन अपारप्रज्ञावान् महात्माओंका नाम भगवज्जिनसेनाचार्य और भगवद्गुण-भद्राचार्य है।

वंशपरिचय।

इन महामुनियोंने किस जाति वा कुलमें जन्म लिया था, इसके जाननेका कोई साधन नहीं हैं। इन्होंने स्वयं अपने ग्रन्थोंमें इस बातका उल्लेख नहीं किया है। मुनियोंको क्या आवश्यकता है कि, वे अपनी गृहस्थावस्थाका स्मरण करें ? और उस समयके तथा पीछेके ग्रन्थकर्त्ताओंको जिन्होंने कि, उनका कुछ उल्लेख किया है, जिनसेन वा गुणभद्रके पारमार्थिक वंशका वर्णन करनेकी अपेक्षा उनके सांसारिक वंशका परिचय देना कुछ विशेष महत्त्वका न जँचा

होगा। जैसा कि, महाकवि धनंजयने भगवानकी स्तुति करते हुए
कहा है:—

तस्यात्मजस्तस्य पितेति देव त्वां येऽवगायन्ति कुलं प्रकाश्य
तेऽद्यापि नन्वाश्मनमित्यवश्यं पाणौ कृतं हेम पुनस्त्यजन्ति ॥

अभिप्राय यह है कि, हे भगवन्! जो लोग आपका इस प्रकार कुल प्रगट करके प्रशंसा करते हैं कि आप अमुकके पुत्र हैं और अमुकके पिता हैं, वे मानो हाथमें आये हुए सोनेको पत्थर समझकर फेंक देते हैं!

वास्तवमें बात ऐसी ही है। जिनसेनस्वामी और गुणभद्रस्वामीके कुलका पता लगानेसे उनकी उस प्रशंसामें कुछ वृद्धि नहीं हो सकती है, जो कि उनकी कृतिसे और उनके अपार पांडित्यसे हो रही है। परन्तु वर्तमानमें ऐतिहासिक दृष्टिसे इसका विचार करनेकी भी आवश्यकता है। अनुमानसे हम इतना कह सकते हैं कि, या तो ये भट्टाकलंकदेवके समान राजाश्रित किसी उच्च ब्राह्मण कुलमें उत्पन्न हुए होंगे, या इन्होंने जैन ब्राह्मण(उपाध्याय)और पंचम आदि तीन चार जातियोंमेंसे किसी एकको वा दोको अपने जन्मसे पवित्र किया होगा। क्योंकि जिस प्रान्तमें ये रहे हैं तथा जहां इनके जन्मकी संभावना है, वहां इन्हीं जातियोंमें जैनधर्म पाया जाता है। भगवान् जिनसेनके विषयमें तो निश्चयपूर्वक कुछ कहा नहीं जा सकता है। परन्तु गुणभद्रस्वामीके विषयमें द्राविड़भाषाके एक निघंटुसे पता लगता है कि, वे तिरुनरुङ्कुण्डम् (Tirunar-kundam) नामक ग्रामके रहनेवाले थे, जो कि इस समय दक्षि

अर्काट जिलेके [South Arcot District] अन्तर्गत समझा जाता है। इसके सिवाय यह भी सुना जाता है कि कर्नाटकी वा द्राविड़-भाषामें भी इन महात्माओंने कई ग्रन्थोंकी रचना की है। इससे भी जाना जाता है कि, ये कर्नाटक वा द्राविड़देशवासी होंगे।

हिन्दीपद्यमें एक ज्ञानप्रबोध नामका ग्रन्थ है, उसमें खंडेलवाल जातिकी उत्पत्तिके प्रकरणमें लिखा है कि, जिनसेनस्वामी पहले खंडेलानगरके राजा थे। परन्तु इस बातपर विश्वास नहीं किया जा सकता है। क्योंकि एक तो ज्ञानप्रबोधके कर्त्ताके कथनके सिवाय इस विषयमें और किसी प्राचीन ग्रन्थका प्रमाण नहीं है, दूसरे उन्होंने जो कुछ लिखा है, उसीपर थोड़ासा विचार करनेसे साफ मालूम हो जाता है कि यह केवल कपोलकल्पना है। देखिये, ज्ञानप्रबोधके थोड़ेसे पद्य हम यहांपर उद्धृत करते हैं:—

राजा छौ मोटौ भलौ, नाम सही जिनसेन।
खंडेलापुरको धणी, गुणपूरणको केन [?] ॥ ९ ॥
अपराजित मुनिके निकट, दीक्षा ले धरि भाव।
आचारज जिनसेन तो, भये पुण्यपरभाव ॥ १० ॥
चेला होया पांचसै, गुणभद्र सिरदार।
बुद्धि क्रियाका जोरतैं, आचारजपदधार ॥ ११ ॥
थापी किरिया देशमें, पंचमकाल प्रमान।
सिद्ध भई चक्रेश्वरी, होत भयौ है मान ॥ १२ ॥
खंडेलामें जो बसैं, आसपासके गाम।
सब ही श्रावक हो गये, गामतणूं धरि नाम ॥ १३ ॥

ज्येष्ठ शुक्लकी पंचमी, सुन्दर लगन विचार।
महापुराण स्थापित करौ, सब ग्रन्थनकौ सार ॥ १४।
चेला श्रीगुणभद्रजी, गुरुआज्ञाकौं धार ॥
आदि अंत तक सब कथा, रच दीनी विस्तार ॥१५
तिनहीका परिपट्टमें, सब मुनिका सरदार।
भये मुनी जिनचन्द्रजी, संयमपालनहार ॥ १६ ॥
शिष्य भये तिनके सही, कुन्दकुन्द मुनिराज।
ध्यानिनमैं उत्तम भये, जैसें सिरके ताज ॥ १७ ॥

इसमें एक तो यह बात बिलकुल गलत है कि, [illegible] जिन गुरुका नाम अपराजित था। क्योंकि महापुराणमें तथा पार्श्वाभ्युदय आदिमें उन्होंने स्वयं अपने गुरुका नाम वीरसेन लिखा है, जैसा कि आगे दिखलाया जायगा। दूसरे गुणभद्रकी शिष्य परिपाटीमें जिनचन्द्र और कुन्दकुन्दको बतलाना अच्छी तरहसे स्पष्ट क[illegible] रहा है कि, ग्रन्थकर्त्तामें ऐतिहासिक ज्ञानका सर्वथा अभाव था। तो विक्रमकी पहली दूसरी शताब्दिके कुन्दकुन्दाचार्य और कहां व[illegible] शताब्दिके गुणभद्राचार्य! यदि कुन्दकुन्दकी परिपाटीमें गु[illegible] लिखते, तो भी ठीक था। परन्तु यहां तो गुणभद्रकी परिपाटीमें कुन्दकुन्दको लिखकर उलटी गंगा बहाई गई है!

इसके सिवाय पं० बखतरामजीकृत बुद्धिविलास नामक भ[illegible] पद्यग्रन्थमें खंडेलाका राजा खंडेलगिरि बतलाया है, जो च[illegible] वंशका था और जिनसेनस्वामीका उक्त नगरमें कहींसे विहार कर

हुए आना बतलाया है। इस ग्रन्थमें जिनसेनके गुरुका नाम यशोभद्र बतलाया है, जो कि एक अंगके धारक थे। इससे भी ज्ञानप्रबोधका कथन असत्य ठहरता है।

जिनसेन और गुणभद्रस्वामीके गृहस्थावस्थाके वंशका भले ही कुछ पता नहीं लगे, परन्तु उनके मुनिवंशका परिचय उनके ग्रन्थोंसे तथा दूसरे उल्लेखोंसे भलीभाँति मिलता है। महावीर भगवान्‌के निर्वाणके पश्चात् जब तक श्वेताम्बरसम्प्रदायकी उत्पत्ति नहीं हुई थी, तब तक यह जैनधर्म संघभेदसे रहित था। केवल आर्हत, जैन, अनेकान्त आदि नामोंसे इसकी प्रसिद्धि थी। परन्तु जब विक्रमकी मृत्युके १३६ वर्ष पीछे श्वेताम्बरसम्प्रदाय पृथक् हुआ, तब दिगम्बरसम्प्रदाय मूलसंघके नामसे प्रसिद्ध हुआ। आगे मूलसंघमें भी अर्हद्बलि आचार्यके समयमें जोकि वीरभगवानके निर्वाणसे लगभग ७०० वर्ष पीछे हुए हैं, चार भेद हुए।

---

१. नन्दिसंघकी पट्टावलीमें यशोभद्रको वीरनिर्वाणके ४७४ वर्ष पीछे अर्थात् विक्रम संवत्‌के प्रारंभमें बतलाया है। पट्टावलीमें जिनसेनका नाम नहीं है। परन्तु यदि खंडेलवालोंकी उत्पत्तिका वृत्तान्त ज्ञानप्रबोध सरीखा कपोलकल्पित नहीं है, तो ऐसा माना जा सकता है कि, ये यशोभद्रके ऐसे अनेक शिष्योंमेंसे जो कि अंगधारी नहीं थे, एक होंगे और महापुराणके कर्त्तासे सिवाय नामसाम्यके उनका और कोई सम्बन्ध नहीं होगा। खंडेलवालोंकी उत्पत्तिके विषयमें जबतक किसी प्राचीन प्रामाणिक ग्रंथमें कुछ उल्लेख नहीं मिले, तबतक उसे असत्य ही समझना चाहिये।

२— एकसए छत्तीसे विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स।
सोरट्ठे वलहीए उप्पण्णो सेवडो संघो।

१ नन्दिसंघ, २ देवसंघ, ३ सेनसंघ और ४ सिंहसंघ । और इन संघोंमें भी बलात्कार, पुन्नाट, देशीय, काणूर आदि गण तथा सरस्वती, पारिजात, पुस्तक, आदि गच्छ स्थापित हुए । ये भेद केवल मुनियोंके संघरागके कारण हुए हैं, किसी प्रकारके मतभेदसे नहीं हुए हैं । अर्थात् इन संघोंके तथा गण गच्छोंके मान्य पदार्थोंमें श्वेताम्बरों और दिगम्बरों जैसा अन्तर नहीं है, सब ही एक ही मार्गके अविभक्त उपासक हैं । जैसा कि समयभूपणमें श्रीइन्द्रनन्दिसूरिने कहा है:—

तदेव यतिराजोऽपि सर्वनैमित्तकाग्रणीः ।
अर्हद्बलिगुरुश्चक्रे संघसघट्टनं परम् ॥ ६ ॥
सिंहसंघो नन्दिसंघः सेनसंघो महाप्रभः ।
देवसंघ इति स्पष्टं स्थानस्थितिविशेषतः ॥ ७ ॥
गणगच्छादयस्तेभ्यो जाताः स्वपरसौख्यदाः ।
न तत्र भेदः कोप्यस्ति प्रव्रज्यादिषु कर्मसु ॥ ८ ॥

---

१. श्रुतावतार कथामें लिखा है कि, जब अर्हद्बलिआचार्यने युगप्रतिक्रमणके समय मुनिजनोंके समूहसे पूछा कि, " सब यति आ गये ? " तब उन्होंनें कहा कि, "हां भगवन् ! हम सब अपने २ संघसहित आ गये ।" इस वाक्यसे अपने २ संघके प्रति मुनियोंकी निजत्वबुद्धि वा रागबुद्धि प्रगट होती थी । इससे आचार्य महाराजने निश्चय कर लिया कि, अब आगे यह जैनधर्म भिन्न २ संघों वा गणोंके पक्षपातसे ठहरेगा, उदासीन भावसे नहीं । इस प्रकार विचार करके उन्होंने जो मुनि गुफामेंसे आये थे, उनकी नन्दि, जो अशोक वाटिकासे आये थे, उनकी देव, जो पंचस्तूपोंसे आये थे उनकी सेन और जो, खंडकेसर वृक्षोंके नीचेसे आये थे, उनकी सिंह संज्ञा रक्खी ।

ऊपर जिन चार संघोंका नाम बतलाया गया है, उनमेंसे सेन-संघ नामक वंशमें हमारे दोनों चरित्रनायकोंने दीक्षा ली थी। सेन संघकी किसी विश्वासपात्र पट्टावलीके प्राप्त नहीं होनेसे हम सेनसंघके प्रारंभसे उक्त चरित्रनायकोंतककी गुरुपरम्परा नहीं बतला सकते हैं। परन्तु विक्रान्तकौरवीयनाटकमें हस्तिमल्लकविने जो अपनी प्रशस्ति लिखी है, उससे मालूम होता है कि, गन्धहस्तिमहाभाष्यके कर्ता स्वामीसमन्तभद्रके वंशमें ही भगवान् जिनसेन तथा गुणभद्र हुए हैं। उसमें लिखा है कि, समन्तभद्रस्वामीके शिवकोटि और शिवायन नामके दो शिष्य हुए और उन्हींकी परिपाटीमें श्रीवीरसेन जिनसेन तथा गुणभद्र अवतीर्ण हुए। उस प्रशस्तिका कुछ भाग यह है:—

तत्त्वार्थसूत्रव्याख्यानगन्धहस्तिप्रवर्त्तकः।
स्वामी समन्तभद्रोऽभूद्देवागमनिदर्शकः॥
अवटुतटमटिति झटिति स्फुटपटुवाचाटधूर्जटेर्जिह्वा।
वादिनि समन्तभद्रे स्थितवति का कथान्येषाम्॥
शिष्यौ तदीयौ शिवकोटिनामा शिवायनः शास्त्रविदां वरिष्ठौ।
कृत्स्नश्रुतश्रीगुणपादमूले ह्यधीतिमन्तौ भवतः कृतार्थौ॥
तदन्ववाये विदुषां वरिष्ठः स्याद्वादनिष्ठः सकलागमज्ञः।
श्रीवीरसेनोऽजनि तार्किकश्रीः प्रध्वस्तरागादिसमस्तदोषः॥

---

१. बहुत लोगोंका ख्याल है बल्कि कई एक कथाग्रन्थोंमें भी लिखा है कि, शिवकोटिका ही दूसरा नाम शिवायन था। परन्तु कविवर हस्तिमल्लके कथनसे शिवकोटि और शिवायन दो जुदे २ आचार्य सिद्ध होते हैं।

यस्य वाचां प्रसादेन ह्यमेयं भुवनत्रयम् ।
आसीदष्टाङ्गनैमित्तज्ञानरूपं विदां वरम् ॥
तच्छिष्यप्रवरो जातो जिनसेनमुनीश्वरः ।
यद्वाङ्मयं पुरोरासीत्पुराणं प्रथमं भुवि ॥
तदीय प्रियशिष्योभूद्गुणभद्रमुनीश्वरः ।
शलाका पुरुषा यस्य सूक्तिभिर्भूषिताः सदा ॥
गुणभद्रगुरोस्तस्य महात्म्यं केन वर्ण्यते ।
यस्य वाक्सुधया भूमावभिषिक्ता मुनीश्वराः ॥

श्रीजिनसेनाचार्यने अपने हरिवंशपुराणके अन्तमें महावीर भगवानसे लेकर अपने समय तकके आचार्योंके नाम दिये हैं। परन्तु उनमें समन्तभद्र, शिवायन, शिवकोटि, वीरसेन आदि किसीका भी नाम नहीं है। इससे मालूम होता है कि, उक्त परम्परा केवल एक पुन्नाटगणकी है, जो कि सेनसंघकी एक शाखा है। महापुराणके कर्त्ता जिनसेन इस पुन्नाटगणमें नहीं, किसी दूसरे ही गणमें हुए हैं, इसलिये उनकी गुरुपरम्परा पुन्नाटगणसे नहीं मिलती है। वीरसेन जिनसेन और गुणभद्रके किसी भी ग्रन्थसे इस बातका पता नहीं लगता है कि, उनका गण तथा गच्छ कौनसा था। उन्होंने जहां २ अपना उल्लेख किया है, वहां केवल सेनसंघका उल्लेख किया है। गण और गच्छका नाम भी नहीं लिया है। यथाः—

श्रीमूलसंघवाराशौ मणीनामिव साचिंषाम् ।
महापुरुषरत्नानां स्थानं सेनान्वयोऽजनि ।

तत्र वित्रासिताशेषप्रवादिमदवारणः ॥
वीरसेनाग्रणीर्वीरसेनभट्टारको बभौ ॥ इत्यादि ।

[उत्तरपुराण]

हरिवंशपुराणकारने अपनी जो श्लोकबद्ध गुरुपरम्परा दी है, विस्तारके भयसे हम उसे समग्र प्रकाशित न करके केवल आचार्योंके नाम मात्र देते हैं:—

अंगज्ञानधारियोंके पश्चात्—नयंधरऋषि, श्रुतऋषि, श्रुतिगुप्त, शिवगुप्त, अर्हद्बलि, मन्दरार्य, मित्रवीर, बलदेव, बलमित्र, सिंहबल, वीरवित्, पद्मसेन, व्याघ्रहस्ति, नागहस्ति, जितदंड, नन्दिषेण, दीपसेन, धरसेन, सुधर्मसेन, सिंहसेन, सुनन्दिषेण, ईश्वरसेन, सुनन्दिषेण, अभयसेन, सिद्धसेन, अभयसेन, भीमसेन, जिनसेन, शान्तिषेण, जयसेन, अमितसेन, कीर्तिषेण और हरिवंशपुराणके कर्त्ता जिनसेन।

महापुराणमें भगवान् जिनसेनने यद्यपि अपनी क्रमबद्ध गुरुपरम्परा नहीं दी है, परन्तु मंगलाचरणमें जिन २ आचार्योंको नमस्कार किया है, उनमेंसे समन्तभद्र, सिद्धसेन, यशोभद्र, शिवकोटि, वीरसेन और जयसेन ये छह आचार्य सेनसंघके मालूम होते हैं। क्योंकि भद्र और सेन ये दो शब्द सेनसंघके आचार्योंके नामके साथ ही प्रायः रहते हैं। इनमेंसे समन्तभद्र और शिवकोटिका उल्लेख तो ऊपर हो चुका है, और वीरसेन तथा जयसेन जिनसेनके गुरुओंमें है, जैसा कि आगे प्रगट किया जायगा। शेष रहे सिद्धसेन और यशोभद्र, सो इन्हें समन्तभद्रके पीछेकी गुरुपरिपाटीमें गिनना चाहिये।

हमारे चरित्रनायकोंकी गुरुपरम्पराका क्रमबद्ध पता चित्रकूट[1]-पुर निवासी एलाचार्यसे प्रारंभ होता है। एलाचार्यके पास वीरसेन-स्वामीने सम्पूर्ण सिद्धान्तशास्त्रोंका अध्ययन करके उपरितम आदि आठ अधिकारोंको लिखा था। ये एलाचार्य कौन थे, और उनकी गुरुपर-म्परा क्या थी, इसका पता अभीतक कुछ भी नहीं मिला है। श्रुता-वतारमें केवल इतना ही उल्लेख मिलता है:—

> काले गते कियत्यपि ततः पुनश्चित्रकूटपुरवासी।
> श्रीमानेलाचार्यो बभूव सिद्धान्ततत्त्वज्ञः॥ १७६॥
> तस्य समीपे सकलं सिद्धान्तमधीत्य वीरसेनगुरुः।
> उपरितमनिबन्धनाद्यधिकारानष्टं लिलेख॥ १७७॥

वीरसेन स्वामीके विनयसेन, जिनसेन, और दशरथगुरुनामके तीन[2] शिष्योंका पता लगता है। इनमेंसे विनयसेनका उल्लेख जिनसेन स्वामीने अपने पार्श्वाभ्युदयकाव्यकी प्रशस्तिमें किया है:—

> श्रीवीरसेनमुनिपादपयोजभृङ्गः
> श्रीमानभूद्विनयसेनमुनिर्गरीयान्।
> तच्चोदितेन जिनसेनमुनीश्वरेण
> काव्यं व्यधायि परिवेष्टितमेघदूतम्॥ ७१॥

---

१. यह चित्रकूटपुर कहां है, यह ठीक २ नहीं कहा जा सकता है।

२. जयधवलटीकाकी प्रशस्तिमें एक श्रीपाल नामके आचार्यका उल्लेख है, जिन्होंने इस टीकाको सम्पादन की है। क्या आश्चर्य है कि, वे भी वीरसेनस्वा-मीके एक शिष्य हों:—

> टीका श्रीजयचिह्नितोरुधवला सूत्रार्थसंबोधिनी
> स्थेयादारविचन्द्रमुज्ज्वलतमा श्रीपालसम्पादिता।

काष्ठासंघके आद्यप्रवर्तक कुमारसेनाचार्य इन्हीं विनयसेनके शिष्य थे, जिन्होंने सन्याससे भ्रष्ट होकर फिर दीक्षा नहीं ली थी। यथा—

आसी[1] कुमारसेणो णंदियडे विणयसेणदिक्खयओ।
सण्णासभंजणेण य अगहियपुणदिक्खओ जाओ॥
सो[2] समणसंघवज्जो कुमारसेणो हु समयमिच्छत्तो।
चत्तोवसमो रुद्दो कट्ठसंघं परूवेदि॥ ३८॥

जिनसेनस्वामीके विषयमें उत्तरपुराणकी प्रशस्तिमें लिखा है:—

अभवदिह हिमाद्रेर्देवसिन्धुप्रवाहो
ध्वनिरिव सकलज्ञात्सर्वशास्त्रैकमूर्तिः।
उदयगिरितटाद्वा भास्करो भासमानः
मुनिरनु जिनसेनो वीरसेनादमुष्मात्॥

अर्थात् जिस तरहसे हिमालयसे गंगानदीका प्रवाह निकलता है, अथवा सर्वज्ञदेवके शरीरसे उनकी दिव्यध्वनि होती है, किंवा उदयाचल पर्वतसे प्रकाशमान सूर्य उदय होता है, उसी प्रकारसे वीरसेनभगवानके पीछे सर्व शास्त्रोंकी मूर्तिके समान श्रीजिनसेनाचार्य हुए।

इसके सिवाय आदिपुराणकी प्रस्तावनामें स्वयं जिनसेन स्वामीने वीरसेनस्वामीको गुरु कहकर उनका बहुत ही गौरवके साथ स्मरण किया है। देखिये:—

---

१. संस्कृतछाया—आसीत्कुमारसेनो नन्दितटे विनयसेनदीक्षितः।
सन्यासभंजनेन यः अगृहीतपुनर्दीक्षो जातः॥

२. स श्रमणसंघवर्ज्यः कुमारसेनः खलु समयमिथ्यात्वी।
त्यक्तोपशमो रुद्रः काष्ठासंघं प्ररूपयति॥ ३८

श्रीवीरसेन इत्यात्तभट्टारकपृथुप्रथः ।
स नः पुनातु पूतात्मा कविवृन्दारको मुनिः ॥ ५५ ॥
लोकवित्वं कवित्वं च स्थितं भट्टारके द्वयम् ।
वाङ्मिता वाग्मिता यस्य वाचा वाचस्पतेरपि ॥ ५६ ॥
सिद्धान्तोपनिबन्धानां विधातुर्मद्गुरोश्चिरम् ।
मन्मनःसरसि स्थेयान्मृदुपादकुशेशयम् ॥ ५७ ॥
धवलां भारतीं तस्य कीर्तिं च विधुनिर्मलाम् ।
धवलीकृतनिःशेषभुवनां तन्नमीम्यहम् ॥ ५८ ॥

इन श्लोकोंका अभिप्राय यह है कि, भट्टारककी[1] बड़ी भारी प्रसिद्ध पदवी प्राप्त करनेवाले, पवित्रात्मा और कविशिरोमणि श्रीवीरसेनाचार्य हमें पवित्र करें। लौकिक ज्ञान और कविता ये दोनों गुण वीरसेन भट्टारकमें हैं। उनकी वाणी वृहस्पतिके पांडित्यको भी पराजित करती है। सिद्धान्तोंकी धवल जयधवल टीकाएं करनेवाले मेरे इन गुरुमहाराजके कोमल चरणकमल मेरे मनरूपी सरोवरमें चिरकाल तक ठहरें। उनकी धवला अर्थात् उज्ज्वल अथवा धवलाटीकासम्बन्धी वाणीको तथा चंद्रमाके समान निर्मल कीर्तिको जो कि सारे संसारको धवल कर रही है, मैं पुनःपुनः नमस्कार करता हूं।

---

1. भट्टारकका लक्षण नीतिसारमें इस प्रकार लिखा है:—

सर्वशास्त्रकलाभिज्ञो नानागच्छाभिवर्द्धकः ।
महामनाः प्रभाभावी भट्टारक इतीष्यते ॥

अर्थात् जो सारे शास्त्रोंका और सारी कलाओंका जाननेवाला हो, अनेक गच्छोंका बढ़ानेवाला हो, विचारशील और प्रभावशील हो, उसे भट्टारक कहते हैं।

उत्तरपुराणकी प्रशस्तिमें गुणभद्राचार्य जिनसेनस्वामीकी प्रशंसा कर चुकनेके पश्चात् कहते हैं:—

दशरथगुरुरासीत्तस्य धीमान्सधर्मा
शशिन इव दिनेशो विश्वलोकैकचक्षुः ।
निखिलमिदमदीपव्यापि तद्वाङ्मयूखैः
प्रकटितनिजभावं निर्मलैर्धर्मसारैः ॥ ११ ॥
सद्भावः सर्वशास्त्राणां तद्भास्वद्वाक्यविस्तरे ।
दर्पणार्पितविम्वाभो वालैरप्याशु बुध्यते ॥१२॥
प्रत्यक्षीकृतलक्ष्यलक्षणविधिर्विंद्योपविद्यान्तगः
सिद्धान्ताब्ध्यवसानयानजनितप्रागल्भ्यवृद्धेद्धधी ।
नानानूननयप्रमाणनिपुणोऽगण्यैर्गुणैर्भूषितः
शिष्यः श्रीगुणभद्रसूरिरनयोरासीज्जगद्विश्रुतः ॥

भावार्थ—जिस तरह चन्द्रमाका सधर्मी सूर्य होता है, उसी प्रकारसे उन जिनसेनस्वामीके सधर्मा (एक गुरुके शिष्य) दशरथगुरु नामके आचार्य हुए, जो कि संसारको दिखलानेवाले अद्वितीय नेत्र हैं और जिनकी निर्मल धर्मको कहनेवाली वचनरूपी किरणोंसे यह अन्धकारव्याप्त संसार अपने यथार्थ भावको प्रकट करता है अर्थात् जिनकी वाणीसे संसारका स्वरूप जान पड़ता है। उनके प्रकाशमान वाक्योंमें सारे शास्त्रोंका भाव दर्पणमें पड़े हुए प्रतिविम्बके समान मूर्ख पुरुषोंको भी शीघ्र ही भास जाता है। इन दोनोंका अर्थात् जिनसेन और दशरथगुरुका जगत्प्रसिद्ध शिष्य गुणभद्रसूरि हुआ, जिसे सारा व्याकरणशास्त्र प्रत्यक्ष हो रहा है, सिद्धान्तसागरके पार

जानेसे जिसकी प्रतिभा तथा बुद्धि प्रकाशित हो रही है, विद्याओं और उपविद्याओंके जो पार पहुंच गया है, सारे नय और प्रमाणोंके (न्यायशास्त्र के) जाननेमें जो चतुर है और इस प्रकारके जो अगणित गुणोंसे भूपित हैं।

इससे दो बातें मालूम होती हैं, एक तो यह कि, दशरथगुरु जिनसेन स्वामीके सतीर्थ थे और दूसरे यह कि गुणभद्रस्वामीके भी वे गुरु थे। बहुत करके गुणभद्रस्वामीके विद्यागुरु दशरथगुरु होंगे और दीक्षागुरु जिनसेनस्वामी होंगे।

इन्द्रनान्दिकृत श्रुतावतारमें जो कि कोल्हापुरमें छपा है, लिखा है कि—

> विंशति सहस्रसद्ग्रन्थरचनया संयुतां विरच्य दिवम्।
> यातस्ततः पुनस्तच्छिष्यो जयसेनगुरुनामा ॥ १८२ ॥
> तच्छेषं चत्वारिंशता सहस्रैः समापितवान्। इत्यादि।

अर्थात् वीरसेनस्वामी जयधवला टीकाके २० हजार श्लोक बनाकर स्वर्गलोकको सिधारे, तब उनके शिष्य जयसेनगुरुने उसका शेष भाग ४० हजार श्लोकोंमें बनाकर पूर्ण किया। इससे मालूम होता है कि वीरसेनस्वामीके एक जयसेन नामके भी शिष्य थे। परन्तु यथार्थमें यह एक भ्रम है। लेखकके प्रमादसे मूल पुस्तकमें या छपाते समय संशोधकके दृष्टिदोषसे 'जिनसेनगुरु' की जगह 'जयसेनगुरु' लिख अथवा छप गया है। क्योंकि जैसा कि हम आगे लिखेंगे, जयधवला टीकाका शेषभाग जिनसेनस्वामीका ही बनाया हुआ है। अतएव वीरसेनस्वामीके जयसेन नामके शिष्य नहीं थे। हां जिनसेनस्वामीके

दीक्षागुरुका नाम जयसेन अवश्य था, जिनका कि उल्लेख आदिपुराणकी उत्थानिकामें वीरसेन स्वामीके पीछे मिलता है:—

जन्मभूमिस्तपोलक्ष्म्याः श्रुतप्रशमयोर्निधिः ॥
जयसेनगुरुः पातुः बुधवृन्दाग्रणीः स नः ॥ ५८ ॥

अर्थात् तपरूपी लक्ष्मीके जन्मस्थान (दीक्षा देनेवाले) और शास्त्र तथा शान्तिके कोश और विद्वानोंके अगुए जयसेनगुरु हमारी रक्षा करें।

इस तरह वीरसेनस्वामीके तीन शिष्योंका उल्लेख मिलता है। कौन कह सकता है कि, उनके ऐसे २ महा विद्वान् और कितने शिष्य थे?

जिनसेनस्वामीके शिष्योंमें केवल गुणभद्रस्वामीका ही उल्लेख मिलता है और इन्हींकी सबसे अधिक प्रसिद्ध है। अथवा दूसरे गृहस्थ शिष्य जगद्विख्यात महाराजाधिराज अमोघवर्ष थे, जिन्होंने कि राज्यका परित्याग कर दिया था। इनका विशेष परिचय हम आगे चलकर करावेंगे।

गुणभद्रस्वामीके अनेक शिष्योंमेंसे केवल दो शिष्योंके विषयमें हम कुछ जानते हैं, एक तो लोकसेन जिनके उपकारके लिये आत्मानुशासन नामक ग्रन्थकी रचना हुई है और दूसरे मण्डलपुरुष जिन्होंने 'चूडामणि—निघण्टु' नामक द्राविड़भाषाका कोश बनाया है। लोकसेनके विषयमें उत्तरपुराणकी प्रशस्तिमें इस प्रकार लिखा है:—

विदितसकलशास्त्रो लोकसेनो मुनीशः
कविरविकलवृत्तस्तस्य शिष्येषु मुख्यः।
सततमिह पुराणे प्राप्य साहाय्यमुच्चै-
र्गुरुविनयमनैषीन्मान्यतां स्वस्य सद्भिः ॥ २५ ॥

अर्थात् उन गुणभद्रसूरिके सम्पूर्ण शिष्योंमें लोकसेन नामके मुनीश्वर मुख्य शिष्य हुए, जो कि कवि हैं और सकल चारित्रके पालन करनेवाले हैं, तथा इस पुराणके रचनेमें गुरुविनयरूप बड़ी भारी सहायता देकर जो विद्वानोंके द्वारा मान्य हुए हैं। मंडलपुरुपने अपने कोशमें स्वयं लिखा है कि, गुणभद्रस्वामी मेरे गुरु हैं। क्षत्रचूडामणिकी प्रस्तावनामें श्रीयुक्त कुप्पूस्वामी शास्त्रीने मंडलपुरुपकृत चूडामणिनिघंटुकी प्रशस्ति उद्धृत की है, परन्तु द्राविड़ भाषाका ज्ञान नहीं होनेसे हम उसे प्रकाशित नहीं कर सके।

इस तरह हमारे चरित्रनायकोंके वंशवृक्षका निम्नलिखित रूप होता है:—

- [२]एलाचार्य
  - वीरसेन
    - विनयसेन
      - कुमारसेन (काष्ठासंघी)
    - जिनसेन
      - अमोघवर्ष महाराज
      - गुणभद्र
        - लोकसेन
        - मंडलपुरुष
    - दशरथगुरु
    - श्रीपाल (सशंकित)

---

१. मंडलपुरुष यह नाम मुनि अथवा आचार्य सरीखा नहीं मालूम होता है। बहुत करके मंडलपुरुष विद्वान् गृहस्थ ही होंगे।

२. हो सकता है कि एलाचार्य सेनसंघके आचार्य न हों और वीरसेनस्वामी उनके समीप सिद्धान्त पढ़ने गये हों तथा वीरसेनस्वामीके दीक्षागुरु कोई दूसरे ही आचार्य हों।

यहांपर एक बात यह विचारणीय है कि वीरसेनस्वामीके पीछे जिनसेन और जिनसेनके पीछे गुणभद्रस्वामीने ही आचार्यपदको सुशोभित किया था, या अन्य किसीने। देवसेनसूरिने अपने दर्शनसारग्रन्थमें काष्ठासंघकी उत्पत्तिमें लिखा है किः—

[1]सिरिवीरसेणसीसो जिणसेणो सयलसत्थविण्णाणी।
सिरिपउमणंदि पच्छा चउसंघसमुद्धरणधीरो॥ ३१॥
तस्स य सिस्सो गुणवं गुणभद्दो दिव्वणाणपरिपुण्णो।
पक्खोवासमंडिय महातवो भावलिंगो य॥ ३२॥
तेण पुणोवि य मिच्चं णेऊण मुणिस्स विणयसेणस्स।
सिद्धंतं घोसित्ता सयं गयं सग्गलोयस्स॥ ३३॥

अर्थात्—श्रीवीरसेनाचार्यके शिष्य जिनसेन जो कि संपूर्ण शास्त्रोंके ज्ञाता थे, श्रीपद्मनन्दिके पश्चात् चारों संघके स्वामी (आचार्य) हुए। फिर उनके शिष्य गुणवान् गुणभद्र हुए जो कि दिव्यज्ञानसे परिपूर्ण, एक एक पक्षका (१५ दिनका) उपवास करनेवाले, बड़े भारी तपस्वी, और सच्चा मुनिलिंग धारण करनेवाले थे। उन्होंने श्रीविन-

---

१. संस्कृतछाया—

श्रीवीरसेनशिष्यो जिनसेनः सकलशास्त्रविज्ञानी।
श्रीपद्मनन्दिपश्चात् चतुःसंघसमुद्धरणधीरः॥ ३१॥
तस्य च शिष्यो गुणवान् गुणभद्रो दिव्यज्ञानपरिपूर्णः।
पक्षोपवासमण्डितः महातपः भावलिङ्गश्च॥ ३२॥
तेन पुनोपि च मृत्युं नीत्वा मुनेः विनयसेनस्य।
सिद्धान्तं घोसित्वा स्वयं गतं स्वर्गलोकस्य॥ ३३॥

यसेनमुनिकी मृत्यु होनेपर सिद्धान्तोंका उपदेश किया और पीछे वे भी स्वर्गलोकको सिधारे।

इससे यह जान पड़ता है कि, वीरसेनस्वामीके पश्चात् पद्मनन्दि नामके मुनि और फिर उनके पीछे जिनसेनस्वामी आचार्यपदपर सुशोभित हुए थे। इसी प्रकारसे जिनसेनस्वामीके पश्चात् विनयसेन और फिर गुणभद्रस्वामी पट्टाधीश हुए थे। पद्मनन्दि आचार्य कौन थे, इस विषयमें निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। जिनसेन और गुणभद्रके प्राप्य ग्रन्थोंमें उनका कोई उल्लेख नहीं मिलता है। परन्तु यदि पद्मनन्दि एलाचार्यका ही नामान्तर हो—जैसा कि प्रसिद्ध है, तो ऐसा हो सकता है कि, वीरसेनके गुरु जो एलाचार्य थे—जिसका कि उल्लेख श्रुतावतार कथामें है—वे ही वीरसेनके पीछे संघाधिपति हुए होंगे और उनके पीछे जिनसेन हुए होंगे। विनयसेन जिनसेन स्वामीके सतीर्थ थे, और विद्वान थे, इसलिये उनके पश्चात् वे आचार्य हुए ही होंगे, इसमें कोई सन्देह नहीं है। विनयसेनका उल्लेख पार्श्वाभ्युदयकाव्यमें मिलता भी है। गुणभद्रस्वामीके पश्चात् आचार्यका पट्ट वहुत करके उनके मुख्य शिष्य लोकसेनने सुशोभित किया होगा।

---

१. **पद्मनन्दि** यह नाम **नन्दि**संघके आचार्य सरीखा जान पड़ता है। क्योंकि **नन्दि, चन्द्र, कीर्ति** और **भूषण** ये चार शब्द प्रायः नान्दिसंघके मुनियोंके नामके साथ ही रहा करते हैं। **सेन**संघके आचार्योंके नाममें तो **सेन, भद्र, राज** और **वीर्य** शब्द लगाये जाते हैं। हां ऐसा हो सकता है कि, किसी कारणसे नान्दिसंघी होकर भी **पद्मनन्दि** सेनसंघके आचार्य बना लिये गये हों।

स्थानपरिचय ।

साधुओंके रहनेका कोई नियत स्थान नहीं होता है । एक ही स्थानमें रहनेसे साधुओंका चारित्र मलिन हो जानेकी संभावना रहती है। इसलिये दिगम्बर मुनि निरंतर एक स्थानसे दूसरे स्थानको विहार किया करते थे और अपने उपदेशोंसे संसारका कल्याण किया करते थे । ऐसा मालूम होता है कि विक्रमकी नवमी शताब्दिमें जब कि भगवान् जिनसेन और गुणभद्र हुए हैं, दिगम्बरवृत्ति बनी हुई थी, सैकड़ों दिगम्बरमुनि विहार किया करते थे और उनके संघका शासन संघाधिपति आचार्य करते थे । तौ भी मुनियोंके चरित्रपर उस समयने तथा उस समयकी परस्थितिने अपना थोड़ा बहुत प्रभाव डाल दिया था, जिससे तत्कालीन आचार्योंने देशकालके अनुसार एक ही स्थानमें न रहनेके तथा राजसभादिमें न जाने आदिके बन्धनोंमें कुछ ढिलाई कर दी थी, जान पड़ता है कि भगवान् जिनसेन और गुणभद्र स्थायीरूपमें तो नहीं, परंतु अधिकतर कर्णाटक और महाराष्ट्र देशके ही भीतर जहां कि राष्ट्रकूट राजाओंका राज्य था रहे होंगे । क्योंकि दूसरे प्रदेश जैनमुनियोंके लिये इतने निरापद नहीं थे । बल्कि ये प्रायः राजधानियोंमें ही अधिक रहे होंगे और वहीं रहकर जैनशासनका उद्योत करते रहे होंगे। क्योंकि तत्कालीन राजा अमोघवर्ष, अकालवर्ष और सामन्त लोकादित्य इनके भक्त थे और उनका इन्हें राजधानियोंमें रहनेके लिये आग्रह रहता होगा । राजधानियोंके सिवाय अन्य स्थानोंमें इनके रहनेका उल्लेख भी बहुत कम मिलता है । गुणभद्रस्वामीने उत्तरपुराणकी

समाप्ति वंकापुरमें की थी जो कि वनवासदेशकी राजधानी था और जहां अकालवर्षका सामन्त लोकादित्य राज्य करता था । वंकापुर इस समय धारवाड़ प्रान्तमें एक कस्वा है। और पार्श्वाभ्युदय काव्यकी रचना अमोघवर्षकी राजधानी मान्यखेटमें हुई होगी, ऐसा जान पड़ता है। क्योंकि पंडिताचार्य योगिराट्की कथाकी घटनासे अथवा ऐसी ही और किसी घटनाके कारण इस ग्रन्थके वनानेकी प्रवृति महाराज अमोघवर्षकी राजसभामें ही होनेकी अधिक संभावना है।

मान्यखेट उस समय कर्नाटक और महाराष्ट्र इन दो विस्तृत देशोंकी राजधानी था। इससे पाठक जान सकते हैं कि इस नगरका वैभव कितना वढ़ा चढ़ा होगा। उस समय उक्त देशोंमें और कोई भी शहर मान्यखेट सरीखा धनजनसम्पन्न नहीं था। तत्कालीन कई एक दानपत्रों और शिलालेखोंमें उसे इन्द्रपुरीकी हँसी करनेवाला वतलाया है। परन्तु इस समय उसी मान्यखेटको देखिये, तो इस वातपर विश्वास ही नहीं होता है कि यह कभी एक वड़ा भारी नगर रहा होगा। मान्यखेटको इस समय मलखेड़ कहते हैं। हैद्रावाद रेल्वे लाइनपर चितापुर नामके स्टेशनसे आगे मलखेड़गेट नामका एक छोटासा स्टेशन है। इस स्टेशनसे मलखेड़ ग्राम ४—६ मील है। यह ग्राम निजामसरकारके कृपापात्र एक मुसलमान जागीरदारके अधिकारमें है। इस गांवके पश्चिममें एक किला है। किलेसे सटकर एक रमणीय सरिता वहती है। सुनते हैं कि, पहले इस किलेमें एक विशाल और सुन्दर जैनमन्दिर था,

जिसमें कि वहुमूल्य प्रतिमाएं थीं। परन्तु इस समय उस मन्दिरके केवल कुछ चिन्हमात्र ही दिखलाई देते हैं। वम्बईमें जो श्रीरत्नकीर्ति नामके भट्टारक रहते हैं और अपनेको मलखेड़की गद्दीके स्वामी वतलाते हैं, कहते हैं कि किलेके एक मन्दिरके भोंहिरेमें जो कि एक उपाध्यायके अधिकारमें है, हीरा पन्ना माणिक आदि नानारत्नोंकी अंगुष्ट प्रमाण ५१ प्रतिमाएं हैं और प्रयत्न करनेसे लोगोंको उनके दर्शन भी मिलते हैं। वे यह भी कहते हैं कि; किला पहले जैनियोंके अधिकारमें था, परन्तु अव निकल गया है। गांवमें इस समय केवल एक ही जैनमन्दिर है, शेप जैनमन्दिर विकृत होकर शिवमन्दिरोंके रूपमें दिखलाई देते हैं। यद्यपि उनके भीतर जिनेन्द्रदेवके स्थानमें शिवजी विराजमान हैं, परन्तु ऐसे अनेक चिन्ह अव भी शेप हैं, जिनसे मालूम हो जाता है कि, पहले ये जैनमन्दिर थे।

मलखेड़में मूलसंघी भट्टारकोंकी एक गद्दी है। परन्तु इस समय दूसरी गद्दियोंके समान उसकी भी वहुत ही शोचनीय स्थिति है। भट्टारक कौन हैं, कैसे हैं और वहांका अद्वितीय ग्रन्थभंडार कहां है, इसका कुछ पता नहीं है। इस गद्दीको पहले निजामसरकारकी ओरसे पांच ग्राम माफीमें लगे हुए थे, परन्तु अव वे जव्त कर लिये गये हैं। पहले दक्षिणमें यह गद्दी सवसे मुख्य समझी जाती थी, सेतवाल, लाड, पंचम कासार, कंवोज आदि सारी जैन जातियां मठाधिपति भट्टारकको नियमित भेट दिया करती थीं, परन्तु पीछे जव यहांकी शाखाएँ लातूर और कारंजामें स्थापित हुईं, तवसे

असम्मत विधवाविवाहकी रीति जारी करनेसे जातियोंमें फूटका वीज बोया गया, भट्टारकोंमें मूर्खता तथा सुखप्रियता आई और जैनधर्मके दुर्दिन लगे, तव धीरे २ यह गद्दी रसातलको पहुंच गई । जहांपर सैकड़ों वर्षतक भगवान् वीरसेन, जिनसेन, गुणभद्र, अकलंकभट्ट सरीखे महान् तपस्वी और दिग्गज विद्वान् रह चुके हैं, और महापुराण जैसे अपूर्व ग्रन्थ बनाये गये हैं, वहांपर अब एक साधारण त्यागी ब्रह्मचारीको तथा महापुराणके एक श्लोकका भी अर्थ लगानेवालेको न पाकर ऐसा कौन सहृदय होगा जिसका हृदय विदीर्ण न होता हो ? हाय ! आज कोई ऐसा भी पुरुष नहीं है, जो इस प्राचीन नगरमें और कुछ नहीं तो प्राचीन मन्दिरोंका जीर्णोद्धार करके भगवान् जिनसेन और गुणभद्रका एक स्मारक ही बनवा देवे! कालप्रभो ! तुम्हारी लीला बड़ी ही निर्दयतासे भरी हुई है । न जाने तुम्हारे विशाल उदरगर्भमें मान्यखेट सरीखे हमारे कितने गौरवस्थल सदाके लिये समा गये हैं !

मान्यखेटमें बहुत करके बलात्कारगणकी गद्दी है । यह गद्दी कहते हैं कि, इन्द्रप्रस्थकी (देहलीकी) गद्दीके लगभग ५०—६० वर्ष पीछे स्थापित हुई थी । फीरोजशाह वादशाहने वि० संवत् १४०७ से १४४४ तक राज्य किया है । इसके समयमें प्रभाचंद्राचार्यसे भट्टारकोंकी उत्पत्ति हुई है, और पहले पहल इन्द्रप्रस्थमें पट्ट स्थापित हुआ है । इस हिसावसे विक्रमकी पन्द्रहवीं शताब्दिके प्रारंभमें अथवा चौदहवीं शताब्दिके उत्तरार्धमें मलखेड़में भट्टारकोंकी गद्दी स्थापित हुई होगी । इसके पहले वस्त्रधारी भट्टारकोंका वहां नाम निशान

भी नहीं रहा होगा। यह ठीक है कि, पट्ट स्थापन होनेके पहले वहां सौ दो सौ वर्ष दिगम्बर मुनियोंका अभाव रहा होगा। क्योंकि ऐसा न होता, तो दिगम्बरोंके स्थानमें वस्त्रधारियोंका होना कोई स्वीकार न करता। लोगोंने समयको और मुनियोंके अभावको देखकर 'सर्वथा न होनेसे कुछ होना अच्छा है' की नीतिके अनुसार वस्त्रधारियोंको ही उपकारकी दृष्टिसे वहुत समझा होगा। परन्तु उस सौ दो सौ वर्षके समयसे पहले वहां दिगम्बर मुनियोंका ही संघ रहा होगा। भगवान् जिनसेन और गुणभद्राचार्य दिगम्बर ही होंगे। वल्कि उनके समयमें और भी सैकड़ों दिगम्बर मुनि होंगे, जिनका शासन वे करते होंगे; इस विषयमें कोई सन्देह नहीं है।

मान्यखेटमें सेनसंघके सिवाय दूसरे संघोंके भी अनेक आचार्य रहे होंगे, ऐसा जान पड़ता है। क्योंकि भगवान अकलंकदेवभट्ट भी जो कि देवसंघके आचार्य थे, इसी मान्यखेटमें हुए हैं। हमारे पाठकोंनें अकलंकचरित्रमें पढ़ा होगा कि, मान्यखेटमें विक्रमकी नवमी शताब्दके लगभग महाराजा अमोघवर्षके ही घरानेका साहसतुंग (शुभतुंगया कृष्णराज) नामका राजा राज्य करता था। अकलंकदेव उसके प्रधान मंत्री पुरुषोत्तमके पुत्र थे। विद्या प्राप्त करनेपर अकलंकदेवने शुभतुंगकी सभामें आकर निम्नलिखित श्लोक पढ़े थे, जो कि श्रवणवेलगुलके जिनमन्दिरकी एक शिलापर लिखे हुए हैं:—

राजन् साहसतुंग सन्ति वहवः श्वेतातपत्रा नृपाः
किन्तु त्वत्सदृशा रणे विजयिनस्त्यागोन्नता दुर्लभाः।

तद्वत्सन्ति बुधा न सन्ति कवयो वादीश्वराः वाग्मिनो
नानाशास्त्र विचारचातुरधियाः काले कलौ मद्विधाः ।
राजन् सर्वारिदर्पप्रविदलनपटुस्त्वं यथाऽत्र प्रसिद्ध–
स्तद्वत् ख्यातोऽहमस्यां भुवि निखिलमदोत्पाटने पण्डितानाम्।
नोचेदेषोऽहमेत तव सदसि सदा सन्ति सन्तो महन्तो
वक्तुं यस्यास्ति शक्तिः स वदतु विदिताशेषशास्त्रो यदि स्यात्।

इन दोनों श्लोकोंका भावार्थ यह है कि हे साहसतुंग, जिस तरह इस जगतमें सफेद छत्रके धारी अनेक राजा हैं, परन्तु तेरे समान रणविजयी दानशूर राजा बहुत दुर्लभ हैं, उसी तरहसे पंडित बहुत हैं, परन्तु मेरे समान कवि वाग्मि और अनेक शास्त्रोंके विचारमें चतुर विद्वान् इस कलिकालमें और दूसरा नहीं है । और जिस तरहसे तू सारे शत्रुओंका मान मर्दन करनेमें प्रसिद्ध है, उसी प्रकारसे पंडितोंका सारा घमंड चकचूर करनेके लिये पृथ्वीमें मैं प्रसिद्ध हूं। यदि ऐसा नहीं है, तो मैं खड़ा हूं, तेरी सभामें सदा ही बहुत बड़े २ विद्वान् रहते हैं, उनमेंसे किसीकी बोलनेकी शक्ति हो, तो वह बोले !

अकलंकदेवके शिष्य प्रभाचन्द्र और विद्यानन्दि जिनसेनाचार्यके समकालीन थे। आश्चर्य नहीं कि, ये भी मान्यखेटमें ही हुए हों। प्रोफेसर के. बीः पाठकने २९ जून सन् १८९२ ई० को 'रायल एशियाटिक सुसाइटीकी बम्बईकी शाखा'के समक्ष भर्तृहरि और कुमारिलभट्टके विषयमें एक निबन्ध पढ़ा था। उसमें लिखा है कि, अकलंकदेव राष्ट्रकूटवंशके शुभतुंग राजाके समकालीन थे जो कि आठवीं

शताब्दिके उत्तरार्धमें हुआ है। अकलंकके शिष्य प्रभाचन्द्र और विद्यानन्दि नवमी शताब्दिके पूर्वार्धमें हुए होंगे और हरिवंशके कर्ता जिंनसेनके समकालीन होंगे। उस समय राष्ट्रकूटवंशीय राजा द्वितीय श्रीवल्लभ था। श्रीवल्लभ कृष्णराजका पुत्र और अमोघवर्षका दादा था। अतएव विद्यानन्दि और प्रभाचन्द्रका काल शकसंवत् ७६० हो सकता है। इस तरह मान्यखेट नगर—जहा कि भगवान जिनसेनाचार्य तथा गुणभद्रस्वामी रहे हैं—बड़े २ भारी मान्य विद्वानोंका निवासस्थल और भगवती जिनवाणीका क्रीडामन्दिर रह चुका है।

समयविचार।

भगवज्जिनसेनका जन्म जहांतक हमने विचार किया है, शकसंवत् ६७५ (वि० सं० ८१०) के लगभग होना चाहिये। क्योंकि जिनसेन नामके एक दूसरे आचार्यने अपने हरिवंशपुराण नामके ग्रन्थमें निम्नलिखित श्लोकोंमें उनका और उनके गुरु वीरसेनका उल्लेख किया है:—

जितात्मपरलोकस्य कवीनां चक्रवर्तिनः।
वीरसेनगुरोः कीर्तिरकलङ्कावभासते ॥ ३९ ॥
यामिताऽभ्युदये तस्य जिनेन्द्रगुणसंस्तुतिः।
स्वामिनो जिनसेनस्य कीर्तिं संकीर्तियत्यसौ ॥ ४० ॥

---

१. यह बात आगे सप्रमाण सिद्ध की जायगी कि, हरिवंशके कर्ता जिनसेन आदिपुराणके कर्ता जिनसेनसे जुदे थे।

२. किसी २ पुस्तकमें "पार्श्वजिनेन्द्रगुणसंस्तुतिः" पाठ है।

वर्द्धमानपुराणोद्यदादित्योक्तिगभस्तयः।
प्रस्फुरन्ति गिरीशान्तःस्फुटस्फटिकभित्तिषु ॥ ४१ ॥

अर्थात्—जिन्होंने परलोकको जीत लिया है और जो कवियोंके चक्रवर्ती हैं, उन वीरसेनगुरुकी कलंकरहित कीर्ति प्रकाशित हो रही है। जिनसेनस्वामीने पार्श्वनाथ भगवानके गुणोंकी जो अपार स्तुति बनाई है, वह उनकी कीर्तिका भली भांति संकीर्तन कर रही है तथा उनके अभ्युदयका कारण हुई है। और उनके रचे हुए वर्द्धमानपुराणरूपी ऊगते हुए सूर्यकी उक्तिरूपी किरणें विद्वान् पुरुषोंकी अन्तःकरणरूपी स्फटिक भूमिमें स्फुरायमान हो रही हैं।

इन श्लोकोंसे यह मालूम होता है कि हरिवंशपुराणकी रचना होनेके समय आदिपुराणके कर्त्ता जिनसेनका अस्तित्व था और उस समय वे पार्श्वजिनेन्द्रस्तुति तथा वर्द्धमानपुराण नामके दो ऐसे ग्रन्थ बना चुके थे, जिन्होंने विद्वानोंके हृदयमें स्थान पा लिया था। इसके सिवाय उनके नामके साथ जो 'स्वामी' पद दिया है, उससे जान पड़ता है कि, वे उस समय एक आदरणीय मुनि समझे जाते थे। इन तीन बातोंसे पाठक सोच सकते हैं कि, हरिवंशपुराणकी रचनाके समय उनकी अवस्था बहुत ही कम होगी, तो २५ वर्षकी होगी। बिना इतनी अवस्थाके इतना पांडित्य, गौरव तथा स्वामी पदका पाना संभव नहीं हो सकता है। और हरिवंशकी

---

१. **तत्वार्थसूत्रव्याख्याता स्वामीति परिपठ्यते।** (नीतिसार) अर्थात् तत्वार्थसूत्रपर व्याख्यान (टीका) बनानेवाला अथवा उसका व्याख्यान करनेवाला '**स्वामी**' कहलाता है।

रचनाका समय उसकी प्रशस्तिके निम्नलिखित श्लोकसे शकसंवत् ७०५ प्रतीत होता है:—

> शाकेष्वब्दशतेषु सप्तसु दिशं पञ्चोत्तरेषूत्तरां
> पातीन्द्रायुधनाम्नि कृष्णनृपजे श्रीवल्लभे दक्षिणाम्।
> पूर्वां श्रीमदवन्तिभूभृतिनृपे वत्साधिराजेऽपरां
> सौराणामधिमण्डलं जययुते वीरे वराहेऽवति ॥

भावार्थ—शकसंवत् ७०५ में जब कि उत्तर दिशामें कृष्णराजका पुत्र इन्द्रायुध, दक्षिणमें श्रीवल्लभ (प्रभूतवर्ष), पूर्वमें अवन्तिराज, और पश्चिममें वत्सराज राज्य करते थे, तब इस ग्रन्थकी रचना हुई।

यह ७०५ शकसंवत् हरिवंशके समाप्त होनेका है। और हरिवंशपुराणकी श्लोकसंख्या लगभग दशबारह हजार है। इतना बड़ा ग्रन्थ रचनेके लिये बहुत ही शीघ्रता की गई होगी, तो पांच वर्ष फिर भी लग गये होंगे। तब ग्रन्थके प्रारंभके समयमें जहां कि जिनसेनस्वामीकी प्रशंसा की गई है, और अन्त समयमें पांच वर्षका अन्तर हुआ। अर्थात् शकसंवत् ७०० (वि० ८३५) में ग्रन्थ प्रारंभ किया गया होगा। अब उसमेंसे २५ वर्ष निकाल दीजिये, तो जिनसेन स्वामीके जन्मका अनुमानिक समय ६७५ शक निकल आवेगा।

हरिवंशपुराणके ऊपर दिये हुए श्लोकोंके विषयमें यदि कोई कहे कि हरिवंशके कर्त्ताने जिन जिनसेनकी प्रशंसा की है, वे आदिपुराणके कर्त्तासे पृथक् भी तो हो सकते हैं। तो उसका उत्तर यह है कि

जिनसेनके पहले जो वीरसेनगुरुकी प्रशंसा की गई है, उससे स्पष्ट हो रहा है कि, वीरसेनके पश्चात् जो जिनसेनका उल्लेख है, वह वीरसेनके शिष्य जिनसेनका ही है। इसके सिवाय वीरसेनको जो **कवीनां चक्रवर्तिनः** विशेषण दिया गया है, उससे यह भी विदित होता है कि ये वीरसेन भी आदिपुराणकर्त्ताके गुरुसे कोई भिन्न नहीं हैं। क्योंकि आदिपुराणके प्रारंभमें जो उनकी स्तुति की गई है, उसमें भी **कविवृन्दारको मुनिः** (देखो पृष्ठ १२ पंक्ति २) आदि विशेषण दिये गये हैं, जिनसे उनका श्रेष्ठ कवि होना सिद्ध होता है। और आदिपुराणके कर्त्ताके समान हरिवंशके कर्त्ताने उन्हें सिद्धान्त-शास्त्रोंकी टीका रचनेवाला नहीं कहा है। क्योंकि हरिवंशकी रचनाके समय उन्होंने टीकाएं नहीं बनाई थीं, कवित्वमें ही उनकी श्रेष्ठता थी। इससे सिद्ध है कि, हरिवंशमें जिन जिनसेनकी स्तुति की गई है, वे हमारे चरित्रनायक ही हैं।

भगवज्जिनसेनका जन्म कब हुआ होगा, इसका विचार किया जा चुका। अब यह देखना है कि, उनका स्वर्गवास कब हुआ होगा। यद्यपि इसके लिये कहीं किसी निश्चित तिथिका उल्लेख नहीं मिलता है परन्तु अनुमानसे जान पड़ता है कि लगभग शकसंवत् ७७० (वि० सं० ९०५) तक वे इस संसारमें रहे होंगे। क्योंकि वीरसेनस्वामीने जो सिद्धान्तशास्त्रकी वीरसेनीया नामकी टीका बनाई है, उसका शेष भाग जिनसेनस्वामीने शक-संवत् ७५९ में समाप्त किया है, ऐसा जयधवला टीकाकी प्रशस्तिसे मालूम पड़ता है। देखिये:—

इति श्रीवीरसेनीया टीका सूत्रार्थदर्शिनी ।
मटग्रामपुरे श्रीमद्गुर्जरार्यानुपालिते ॥
फाल्गुने मासि पूर्वाह्णे दशम्यां शुक्लपक्षके ।
प्रवर्धमानपूजायां नन्दीश्वरमहोत्सवे ॥
अमोघवर्षराजेन्द्रप्राज्यराज्यगुणोदया ।
निष्ठितप्रचयं यायादाकल्पान्तमनल्पिका ॥
षष्टिरेव सहस्राणि ग्रन्थानां परिमाणतः ।
श्लोकेनानुष्टुभेनात्र निर्दिष्टान्यनुपूर्वशः ॥
विभक्तिः प्रथमस्कन्धो द्वितीयः संक्रमोदयः ।
उपयोगश्च शेपास्तु तृतीयस्कन्ध इष्यते ॥
एकान्नषष्टिसमधिकसप्तशताब्देषु शकनरेन्द्रस्य ।
समतीऽतेषु समाप्ता जयधवला प्राभृतव्याख्या ॥
गाथासूत्राणि सूत्राणि चूर्णिसूत्रं तु वार्तिकम् ।
टीका श्रीवीरसेनीयाऽशेपापद्धतिपञ्चिका ॥
श्रीवीरप्रभुभाषितार्थघटना निर्लोडितान्यागम-
न्याया श्रीजिनसेनसन्मुनिवरैरादेशितार्थस्थितिः ।
टीका श्रीजयचिह्नितोरुधवला सूत्रार्थसम्बोधिनी
स्थेयादारविचन्द्रमुज्ज्वलतमा श्रीपालसम्पादिता ॥

भावार्थ—इस प्रकारसे यह वीरसेनीया टीका जो कि सूत्रोंके अर्थको प्रगट करनेवाली है बड़ी भारी है, और अमोघवर्ष महाराजके विस्तृत राज्यके गुणोंके कारण जिसका उदय हुआ है, फागुन

सुदी दशमीके पूर्वाह्नमें जब कि अष्टान्हिकाका महोत्सव था और पूजा हो रही थी, पूर्ण हुई, सो कल्पकालपर्यन्त इसका कभी क्षय नहीं होवे। अनुष्टुप् श्लोकोंकी गिनतीसे इस टीकाके कुल ६० हजार श्लोक हुए हैं। इसमें तीन स्कन्ध हैं, जिनके क्रमसे विभक्ति, संक्रमोदय, और उपयोग ये तीन नाम हैं। शकसंवत् ७५९ में कषायप्राभृतकी यह जयधवला टीका समाप्त हुई। गाथासूत्र, सूत्र, चूर्णिसूत्र, वार्तिक और वीरसेनीया टीका इस प्रकारसे इस पंचांगी टीकाका क्रम है। जिसमें वीरभगवान्के कहे हुए अभिप्रायोंका संग्रह किया गया है, दूसरे आगमोंके विषय जिसमें विलोये गये हैं, श्रेष्ठ जिनसेन मुनीश्वरने जिसमें (अपने गुरुके) उपदेश किये हुए अर्थोंकी रचना की है, श्रीपाल नामके मुनिने जिसे सम्पादन की है, और सूत्रोंके अर्थका जिससे बोध होता है; ऐसी यह अतिशय पवित्र या प्रकाशमान जयधवला टीका जबतक संसारमें सूर्य चंद्र हैं, तब तक स्थिर रहे।

इसमें कहीं वीरसेनीया और कहीं जयधवला टीका लिखी देखकर पाठक चक्करमें न पड़ें। वास्तवमें कषायप्राभृतकी (जिसे प्रायोदोषप्राभृत भी कहते हैं और जो ज्ञानप्रवादनाम पांचवें पूर्वके दशम वस्तुका तीसरा प्राभृत है) जो वीरसेनस्वामी और जिनसेनस्वामीकृत ६० हजार श्लोक प्रमाण टीका है, उसका नाम तो वीरसेनीया है और इस वीरसेनीया टीकासहित जो कषायप्राभृतके मूलसूत्र और चूर्णिसूत्र वार्तिक वगैरह अन्य आचार्योंकी टीकाएं हैं, उन सबकें संग्रहको जयधवलाटीका कहते हैं। यह संग्रह श्रीपाल नामके

किसी आचार्यने किया है, इसलिये जयधवलाको ' श्रीपालसम्पादिता' विशेषण दिया है। कषायप्राभृतके मूल गाथासूत्र (१८३) श्लोक और विवरणसूत्र (५०३ श्लोक) गुणधरमुनिकृत हैं, चूर्णिसूत्र (६००० श्लो०) यतिवृषभाचार्यकृत हैं और वार्तिक (६० हजार श्लो०) बहुत करके बप्पदेवगुरुकृत हैं।

वीरसेनीया टीकाका प्रथमस्कन्ध जो कि २० हजार श्लोकका है वीरसेनस्वामीने बनाया है, और शेष भाग उनके शिष्यने। इसके लिये इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतार कथामें भी स्पष्ट शब्दोंमें लिखा है:—

आगत्य[1] चित्रकूटात्ततः स भगवान्गुरोरनुज्ञानात्।
माटग्रामे चात्रानतेन्द्रकृतजिनगृहे स्थित्वा ॥ १७८ ॥
व्याख्याप्रज्ञप्तिमवाप्य पूर्वषट्खण्डतस्ततस्तस्मिन्।
उपरिमबन्धनाद्यधिकारैरष्टादशविकल्पैः ॥ १७९ ॥
सत्कर्मनामधेयं षष्ठं खण्डं विधाय संक्षिप्य।
इति षण्णां खण्डानां ग्रन्थसहस्रैर्द्विसप्तत्या ॥ १८० ॥
प्राकृतसंस्कृतभाषामिश्रां टीकां विलिख्य धवलाख्याम्।
जयधवलां च कषायप्राभृतके चतसृणां विभक्तीनाम् ॥१८१॥
विंशतिसहस्रसद्ग्रन्थरचनया संयुतां विरच्य दिवम्।
यातस्ततः पुनस्तच्छिष्यो जयसेनगुरुनामा ॥ १८२ ॥

---

१. इसका पहले १७६ और १७७ वें श्लोकसे सम्बन्ध है, जो पृष्ठ १० में छप चुके हैं।

तच्छेषं चत्वारिंशतासहस्रैः समापितवान् ।
जयधवलैवं षष्टिसहस्रग्रन्थोऽभवट्टीका ॥ १८३ ॥

भावार्थ—गुरु महाराजकी आज्ञासे वीरसेनस्वामी चित्रकूट छोड़कर माट्याम में आये। वहां आनतेन्द्रके वनवाये हुए जिनमन्दिरमें बैठकर उन्होंने व्याख्याप्रज्ञप्ति (वप्पदेवगुरुकृत)को प्राप्तकरके उसके जो पहले (कर्मप्राभृतके) छह खंड हैं, उनमेंसे छठे खंडको संक्षेप किया और सबकी वन्धनादि अठारह अधिकारोंमें (अध्यायोंमें) प्राकृतसंस्कृतभाषामिश्र धवलानामकी टीका ७२ हजार श्लोकोंमें रची। और फिर दूसरे कषायप्राभृतके पहले स्कन्धकी चारों विभक्तियोंपर जयधवला नामकी २० हजार श्लोक प्रमाण टीका लिख करके स्वर्गलोकको सिधारे। पीछे उनके शिष्य श्रीजयसेनगुरुने ४० हजार श्लोक और वनाकर जयधवलाटीकाको पूर्ण की। जयधवला सब मिलाकर ६० हजार श्लोकोंमें पूर्ण हुई।

यहां जो शिष्यका नाम जयसेनगुरु लिखा है वह जैसा कि पहले कहा जा चुका है, छपानेवालोंके अथवा लेखक महाशयोंके दृष्टि-दोषसे लिखा गया है। इसके लिये एक प्रमाण तो यह है कि, वीरसेनस्वामीके जयसेन नामके कोई शिष्य नहीं थे—जिनसेन ही थे और दूसरे विवुध श्रीधरकृत गद्यश्रुतावतारमें जयसेनके स्थानमें जिनसेन ही लिखा है। यथाः—

अत्रान्तरे एलाचार्यभट्टारकपार्श्वे सिद्धान्तद्वयं वीरसेननामा मुनिः पठित्वाऽपराण्यपि अष्टादशाधिकाराणि प्राप्य पञ्चखण्डे षट्खण्डं संकल्प्य संस्कृतप्राकृतभाषया सत्कर्मनामटीकां द्वास-

प्रतिसहस्रप्रमितां धवलनामाङ्कितां लिखाप्य विंशतिसहस्रकर्मप्राभृतं विचार्य्य वीरसेनमुनिः स्वर्गं यास्यति। तस्य शिष्यो जिनसेनो भविष्यति सोऽपि चत्वारिंशत्सहस्रैः कर्मप्राभृतं समाप्तिं नेष्यति। अमुना प्रकारेण षष्टिसहस्रप्रमिता जयधवलनामाङ्किता टीका भविष्यति।

इसका अभिप्राय वही है, जो ऊपर इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतारके श्लोकोंमें दिया है। केवल इतना अन्तर है कि जयसेनके स्थानमें जिनसेनको वीरसेनका शिष्य बतलाया है।

इसके शिवाय भगवद्गुणभद्रने उत्तरपुराणकी प्रशस्तिमें जिनसेनस्वामीको सिद्धान्तशास्त्रका टीकाकार कहा है। यथाः—

जिनसेनभगवतोक्तं मिथ्याकविदर्पदलनमातिललितम्।
सिद्धान्तोपनिबन्धनकर्त्रा भर्त्रा चिराद्विनायासात्॥

इस श्लोकका सम्बन्ध पहलेके कई श्लोकोंसे है, जिनमें महापुराणकी प्रशंसा की गई है। विस्तारके भयसे हमने उन्हें न लिखकर केवल इस एक ही श्लोकको लिखा है। इसका अभिप्राय यह है कि, झूठे कवियोंके गर्वको दलन करनेवाला यह बहुत ही सुन्दर महापुराण, विना ही परिश्रमके सिद्धान्तकी (कषायप्राभृतकी) शेष टीका बनानेवाले और चिरकाल तक सबका पालन करनेवाले भगवान् जिनसेनका कहा हुआ है। हम समझते हैं कि, जयधवला टीकाके शेष भागके कर्ता जिनसेन ही हैं, इस विषयमें अब और अधिक प्रमाण देनेकी अवश्यक्ता नहीं होगी।

अब प्रस्तुत विषयपर आइये । इससे शकसंवत् ७५९ तक जिनसेनस्वामी स्वामी थे, इस विषयमें कोई सन्देह नहीं रहा । अब यह देखना है कि, आगे वे और कबतक इस धराधामको पवित्र करते रहे हैं ।

हमारी समझमें आदिपुराणकी रचना जयधवला टीकाके पूर्ण हो चुकनेके पश्चात् हुई है। क्योंकि आदिपुराणकी प्रस्तावना जिस समय लिखी गई है, उस समय वीरसेनस्वामी सिद्धान्तशास्त्रोंकी दोनों टीकाओंके कर्त्ता कहलाते थे और स्वर्गवास कर चुके थे, ऐसा निम्नलिखित श्लोकसे अनुमान होता है:—

सिद्धान्तोपनिबन्धानां विधातुर्मद्गुरोश्चिरम् ।
मन्मनःसरसि स्थेयान्मृदुपादकुशेशयम् ॥ ५७ ॥

इस श्लोकका अर्थ पहले लिखा जा चुका है। इसमें जो 'सिद्धान्तोंकी टीकाएं बनानेवाले' विशेण दिया है, वह यदि आदिपुराण जयधवला टीकासे पहले बना होता, तो नहीं दिया जाता। वीरसेनस्वामी 'टीकाएं' बना चुके थे, इसीलिये दिया गया है और, 'उनके कोमल चरण कमल मेरे हृदयसरोवरमें ठहरें' ऐसी जो आकांक्षा की गई है, उससे ध्वनित होता है कि, वीरसेनस्वामीका स्वर्गवास हो चुका था, क्योंकि परलोकगत अवस्थामें ही गुरुके चरण स्मरण किये जाते हैं। इसके सिवाय जब महापुराण अधूरा छोड़के ही जिनसेनस्वामी स्वर्गवास कर गये हैं, तब स्वयं ही सिद्ध है कि, महापुराण उनकी सबसे पिछली रचना है। जयधवला टीका उससे बहुत पहले बन चुकी होगी।

इसके जाननेका कोई साधन नहीं है कि, महापुराण किस समय आरंभ किया गया और उसका उत्तरभाग गुणभद्राचार्यने किस समय लिखना शुरू किया। केवल उत्तरपुराणकी समाप्तिका समय उसकी अन्त प्रशस्तिसे मालूम होता है:—

शकनृपकालाभ्यन्तरविंशत्यधिकाष्टशतमिताब्दान्ते ।
मङ्गलमहार्थकारिणि पिङ्गलनामनि समस्तजनसुखदे॥३२॥
श्रीपञ्चम्यां बुधार्द्रायुजि दिवसवरे मंत्रिवारे सुधांशौ ।
पूर्वायां सिंहलग्ने धनुषि धरणिजे वृश्चिकार्कौ तुलागौ ॥
सूर्ये शुक्रे कुलीरे गवि च सुरगुरौ निष्ठितं भव्यवर्यैः ॥
प्राप्तेज्यं सर्वसारं जगति विजयते पुण्यमेतत्पुराणम् ॥३३॥

इसका अभिप्राय यह है कि, शकसंवत् ८२० में यह महापुराण समाप्त हुआ। महापुराणके शेष भागके जिसको कि गुणभद्रस्वामीने पूर्ण किया है, दश हजार श्लोक हैं। यदि गुणभद्रस्वामी इसे लगातार बनाते गये हों, और दश दश पांच पांच श्लोक ही इसके प्रतिदिन बनाते रहे हों, तो दश हजार श्लोकोंकी रचनाके लिये पांच वर्ष समझ लेना काफी है। अर्थात् उत्तरपुराणका प्रारंभ शकसंवत् ८१५ के लगभग हुआ होगा, ऐसा अनुमान कर सकते हैं। परन्तु इससे यह समझ लेना हमारी भूल होगी कि, जिनसेनस्वामीका ८१५ के लगभग देहान्त हुआ होगा। क्योंकि इस कालमें १४० वर्षकी आयु होना एक प्रकारसे असंभव है। इससे जान पड़ता है कि, जिनसेनस्वामीका शरीरान्त होनेपर महापुराण बहुत वर्षों तक अधूरा पड़ा रहा है, और फिर गुणभद्रस्वामीने उसमें हाथ लगाया है। इन

पहले लिख चुके हैं कि, जिनसेनस्वामीके पीछे संघके स्वामी विनय-सेन हुए थे और फिर उनके पीछे गुणभद्र हुए थे। इससे अनुमान होता है कि, शायद गुणभद्रस्वामीने संघका अधिपत्य अर्थात् आचार्यपद पाचुकनेपर महापुराणका लिखना शुरू किया होगा और क्या आश्चर्य है, जो महापुराण वीचमें इसलिये पड़ा रहा हो कि, ऐसा महान् आर्षग्रन्थ एक संघाधिपति अनुभवी ऋषिके द्वारा ही पूर्ण होना चाहिये, सामान्य मुनिके द्वारा नहीं।

उधर जयधवला टीकाके पूर्ण होते ही यदि महापुराणकी रचना शुरू हो गई हो, और वह इस ख्यालसे कि उस समय जिनसेन-स्वामीकी अवस्था ८० वर्षसे ऊपर हो चुकी थी, वहुत थोड़ी थोड़ी होती रही हो; तो उसके दशहजार श्लोक पूर्ण होनेमें लगभग १० वर्ष लग गये होंगे। महापुराणका जितना भाग जिनसेनस्वामीकृत है उसकी श्लोकसंख्या दश हजार है। इस हिसावसे शकसंवत् ७७० तक अथवा वहुत जल्दी हुआ हो, तो निदान ७६९ तक तो भगवान् जिनसेनका अस्तित्व माननेमें कोई आपत्ति नहीं दीखती है।

इस तरह भगवान् जिनसेन अपने अस्खलित ब्रह्मचर्य, संयम और पवित्र विचारोंके कारण लगभग ९०-९५ वर्षकी अवस्थाको प्राप्त करके और संसारका अनन्त उपकार करके स्वर्गवासी हुए।

---

१. जिनसेनस्वामीके गुरु वीरसेनस्वामीकी अवस्था भी ८० वर्षसे कम न हुई होगी, ऐसा जान पड़ता है। क्योंकि वे जयधवलाटीका पूर्ण होनेके दश वर्ष पहले लगभग शकसवत् ७५० में स्वर्गवासी हुए होंगे और जन्म उनका अधिक नहीं तो जिनसेनस्वामीके १० वर्ष पहले लगभग ६६५ शकमें हुआ होगा। इस हिसावसे ८५ वर्षकी अवस्था हो जाती है।

गुणभद्रस्वामी कबसे कब तक रहे, इसका निर्णय करनेमें और बड़ी कठिनता है। क्योंकि उन्होंने उत्तरपुराणके सिवाय अन्य किसी भी ग्रन्थमें अपनी प्रशस्ति नहीं दी है। और न उस समयके किसी विद्वानका किया हुआ उल्लेख उनके विषयमें मिलता है। श्रीदेवसेनसूरिके बनाये हुए दर्शनसारके कुछ गाथा हम ऊपर दे चुके हैं, जिनमें यह कहा गया है कि, जिनसेनस्वामीके शिष्य गुणभद्रस्वामी थे। उन्होंने विनयसेनमुनिके शरीरान्त होनेपर सिद्धान्तोंका उपदेश किया और पीछे वे भी स्वर्गलोकको सिधारे। फिर विनयसेनका शिष्य कुमारसेन था, सो उसने संन्यासभ्रष्ट होकर काष्ठासंघ चलाया। इससे यह अभिप्राय निकलता है कि, विनयसेन और गुणभद्रस्वामीकी मृत्युके पश्चात् कुमारसेन सन्यासभ्रष्ट हुआ है, और फिर उसने काष्ठासंघ चलाया है। काष्ठासंघ कब चला है, इसके लिये दर्शनसारकी उक्त गाथाओंके आगे ही कहा है:—

सत्तसये तेवण्णे विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स।
नंदियडे वरगामे कट्ठासंघो मुणेयव्वो॥ ३९॥
नंदियडे वरगामे कुमारसेणो य सत्थविण्णाणी।
कट्ठो दंसणभट्ठो जादो सल्लेहणाकाले॥ ४०॥

अर्थात् विक्रमराजा (शालिवाहन) की मृत्युके ७५३ वर्ष पीछे नन्दीतट ग्राममें काष्ठासंघ उत्पन्न हुआ। उक्त ग्राममें शास्त्रोंका ज्ञाता कुमारसेन सल्लेखनाके समय दर्शनसे भ्रष्ट हो गया।

---

१. यह निश्चय हो चुका है कि, शकसंवत्के चलानेवाले शालिवाहनका नाम विक्रम था। जैनग्रन्थोंमें जहां विक्रमाब्द लिखा रहता है, वहां बहुत करके शकसंवत्के ही अभिप्रायसे लिखा रहता है।

पहले लिख चुके हैं कि, जिनसेनस्वामीके पीछे संघके स्वामी विनय-सेन हुए थे और फिर उनके पीछे गुणभद्र हुए थे। इससे अनुमान होता है कि, शायद गुणभद्रस्वामीने संघका आधिपत्य अर्थात् आ-चार्यपद पाचुकनेपर महापुराणका लिखना शुरू किया होगा और क्या आश्चर्य है, जो महापुराण बीचमें इसलिये पड़ा रहा हो कि, ऐसा महान् आर्षग्रन्थ एक संघाधिपति अनुभवी ऋषिके द्वारा ही पूर्ण होना चाहिये, सामान्य मुनिके द्वारा नहीं।

उधर जयधवला टीकाके पूर्ण होते ही यदि महापुराणकी रचना शुरू हो गई हो, और वह इस ख्यालसे कि उस समय जिनसेन-स्वामीकी अवस्था ८० वर्षसे उपर हा चुकी थी, बहुत थोड़ी थोड़ी होती रही हो; तो उसके दशहजार श्लोक पूर्ण होनेमें लगभग १० वर्ष लग गये होंगे। महापुराणका जितना भाग जिनसेनस्वामीकृत है उसकी श्लोकसंख्या दश हजार है। इस हिसाबसे शकसंवत् ७७० तक अथवा बहुत जल्दी हुआ हो, तो निदान ७६५ तक तो भगवान् जिनसेनका अस्तित्व माननेमें कोई आपत्ति नहीं दीखती है।

इस तरह भगवान् जिनसेन अपने अस्खलित ब्रह्मचर्य, संयम और पवित्र विचारोंके कारण लगभग ९०-९५ वर्षकी अवस्थाको प्राप्त करके और संसारका अनन्त उपकार करके स्वर्गवासी हुए।

---

१. जिनसेनस्वामीके गुरु वीरसेनस्वामीकी अवस्था भी ८० वर्षसे कम न हुई होगी, ऐसा जान पड़ता है। क्योंकि वे जयधवलाटीका पूर्ण होनेके दश वर्ष पहले लगभग शकसवत् ७५० में स्वर्गवासी हुए होंगे और जन्म उनका अधिक नहीं तो जिनसेनस्वामीके १० वर्ष पहले लगभग ६६५ शकमें हुआ होगा। इस हिसाबसे ८५ वर्षकी अवस्था हो जाती है।

गुणभद्रस्वामी कबसे कब तक रहे, इसका निर्णय करनेमें और बड़ी कठिनता है। क्योंकि उन्होंने उत्तरपुराणके सिवाय अन्य किसी भी ग्रन्थमें अपनी प्रशस्ति नहीं दी है। और न उस समयके किसी विद्वानका किया हुआ उल्लेख उनके विषयमें मिलता है। श्रीदेवसेनसूरिके बनाये हुए दर्शनसारके कुछ गाथा हम ऊपर दे चुके हैं, जिनमें यह कहा गया है कि, जिनसेनस्वामीके शिष्य गुणभद्रस्वामी थे। उन्होंने विनयसेनमुनिके शरीरान्त होनेपर सिद्धान्तोंका उपदेश किया और पीछे वे भी स्वर्गलोकको सिधारे। फिर विनयसेनका शिष्य कुमारसेन था, सो उसने संन्यासभ्रष्ट होकर काष्ठासंघ चलाया। इससे यह अभिप्राय निकलता है कि, विनयसेन और गुणभद्रस्वामीकी मृत्युके पश्चात् कुमारसेन सन्यासभ्रष्ट हुआ है, और फिर उसने काष्ठासंघ चलाया है। काष्ठासंघ कब चला है, इसके लिये दर्शनासारकी उक्त गाथाओंके आगे ही कहा है:—

सत्तसये तेवण्णे विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स ।
नंदियडे वरगामे कट्ठोसंघो मुणेयव्वो ॥ ३९ ॥
नंदियडे वरगामे कुमारसेणो य सत्थविण्णाणी ।
कट्ठो दंसणभट्ठो जादो सल्लेहणाकाले ॥ ४० ॥

अर्थात् विक्रमराजा (शालिवाहन) की मृत्युके ७५३ वर्ष पीछे नन्दीतट ग्राममें काष्ठासंघ उत्पन्न हुआ। उक्त ग्राममें शास्त्रोंका ज्ञाता कुमारसेन सल्लेखनाके समय दर्शनसे भ्रष्ट हो गया।

---

१. यह निश्चय हो चुका है कि, शकसंवतके चलानेवाले शालिवाहनका नाम विक्रम था। जैनग्रन्थोंमें जहां विक्रमाब्द लिखा रहता है, वहां बहुत करके शकसंवतके ही अभिप्रायसे लिखा रहता है।

वर्तमानमें जो शकसंवत् चलता है, वह शकविक्रमके जन्मसे चलता है और यहां जो ७५३ शक बतलाया है, वह मरणका है। अतएव शकविक्रमकी (शालिवाहनकी) अवस्थाके ८९ वर्ष इसमें जोड़ देना चाहिये। इस तरह ७५३+८९=८४२ शकसंवत् काष्ठासंघकी उत्पत्तिका होता है। इससे सिद्ध होता है कि, शक ८४२ से पहले और ८२० के पीछे किसी समय गुणभद्रस्वामीकी मृत्यु हो चुकी होगी। शक ८२० के पीछे कहनेका कारण यह है कि, महापुराणकी समाप्ति उन्होंने शक ८२० में की है, ऐसा पहले कहा जा चुका है। आत्मानुशासन, जिनदत्तचरित्र आदि कई ग्रन्थ गुणभद्रस्वामीके और भी हैं, परन्तु उनकी प्रशस्तियोंके अभावसे यह नहीं कहा जा सकता है कि, वे महापुराणसे पहले बन चुके थे, या पीछेके हैं। यदि पछिके हों, तो शक ८२० के और भी कई वर्ष पीछे तक गुणभद्रस्वामीकी अवस्थाकी निश्चित अवधि बढ़ाई जा सकती है। प्रारंभमें कहा जा चुका है कि, मंडलपुरुषकृत चूड़ामाणि निघंटुमें गुणभद्रस्वामीके ग्रामका नाम लिखा है। क्या आश्चर्य है, जो उक्त ग्रन्थसे उनके जन्म तथा दीक्षादिके समयका भी निश्चित ज्ञान हो जाय।

ग्रन्थरचना।

जिनसेनस्वामीके बनाये हुए आदिपुराण और पार्श्वाभ्युदयकाव्य ये दो ग्रन्थ तो प्रसिद्ध तथा प्राप्त हैं, जयधवला टीका (शेषभाग) सर्वत्र प्राप्त नहीं है, परन्तु उसका अस्तित्व है। मूडविद्रीके सुप्रसिद्ध

---

१. इसीलिये त्रिलोकसारमें लिखा है कि, वीर निर्वाणके ६०५ वर्ष और ५ महिनेके बाद शकराजा हुआ। वर्तमान शकसंवत् १८३४ में ६०५ जोडनेसे २४३९ वीरनिर्वाण संवत् हो जाता है।

सिद्धान्तमन्दिरमें उसकी एक प्रति है, और जिनेन्द्रगुणस्तुति तथा वर्द्धमानपुराणनामके दो ग्रन्थोंका पता हरिवंशपुराणकी प्रस्तावनासे लगता है, जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है, परन्तु अभीतक इन ग्रन्थोंका अस्तित्व कहींपर सुननेमें नहीं आया है। शायद किसीको यह ज्ञात भी नहीं है कि, जिनसेनस्वामीके बनाये हुए वर्द्धमानपुराण तथा जिनेन्द्रगुणस्तुति नामके भी कोई ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थोंके सिवाय सुप्रसिद्ध हरिवंशपुराण भी जिनसेनस्वामीका बनाया हुआ कहलाता है। बल्कि प्रोफेसर के. बी. पाठक, श्रीयुक्त टी. एस. कुप्पूस्वामी शास्त्री आदि कई विद्वानोंने इस विषयका कई स्थानोंमें उल्लेख भी किया है। इस लेखके लिखनेका प्रारंभ करने तक इस निबन्धलेखकका भी यही ख्याल था कि, हरिवंशपुराण और आदिपुराणके कर्त्ता जिनसेन एक ही हैं। परन्तु पीछे विचार करनेसे अच्छीतरह निश्चय हो गया कि, आदिपुराणके कर्त्ता जिनसेनसे हरिवंशपुराणके कर्त्ता जिनसेन जुदे थे। पाठकोंके विश्वासके लिये इस विषयमें हम यहांपर थोड़ेसे प्रमाण देते हैं:—

१ आदिपुराणके कर्त्ता जिनसेनके विद्यागुरुका नाम वीरसेन और दीक्षागुरुका नाम जयसेन था, ऐसा ऊपर आदिपुराण, पार्श्वाभ्युदय, उत्तरपुराण, श्रुतावतार, दर्शनसार आदि कई ग्रन्थोंके आधारसे प्रगट किया जा चुका है, परन्तु हरिवंशपुराणके कर्त्ता अपने गुरुका नाम कीर्तिसेन लिखते हैं।

२ आदिपुराणकारने अपने संघका नाम सेन लिखा है, परन्तु गण नहीं बतलाया। हरिवंशके कर्त्ता संघ आदि कुछ भी नहीं लिखकर

केवल अपना पुन्नाटगण वतलाते हैं और दोनोंकी गुरुपरम्परा भी एक दूसरेसे बिल्कुल नहीं मिलती है। देखिये, हरिवंशपुराणकी प्रशस्तिमें जिनसेनसूरि वर्द्धमानस्वामीसे लेकर जयसेनगुरु तककी गुरुपरम्परा लिखकर आगे कहते हैं:—

तदीय शिष्योऽमितसेनसद्गुरुःपवित्रपुन्नाटगणाग्रणी गणी।
जिनेन्द्रसच्छासनवत्सलात्मना तपोभृता वर्षशताधिजीविना ३१
सुशास्त्रदानेन वदान्यतामुना वदान्यमुख्येन भुवि प्रकाशिता।
तदग्रजा धर्मसहोदरःशमी समग्रधीर्द्धर्म इवात्तविग्रहः॥ ३२॥
तपोमयीं कीर्तिमशेषदिक्षु यः क्षिपन्बभौ कीर्तितकीर्तिषेणः।
तदग्रशिष्येण शिवाग्रसौख्यभागरिष्टनेमीश्वरभक्तिभाविना।३३।
स्वशक्तिभाजा जिनसेनसूरिणा धियाल्पयोक्ता हरिवंशपद्धतिः।
यदत्र किञ्चिद्रचितं प्रमादतःपरस्परव्याहतिदोषदूषितम्॥ ३४॥
तदप्रमदास्तु पुराणकोविदाःसृजन्तु जन्तुस्थितिशक्तिवेदिनः।
प्रशस्तवंशो हरिवंशपर्वतःक्व मे मतिःक्वाल्पतराल्पशक्तिका॥३५॥

इन श्लोकोंका अभिप्राय यह है कि, उन जयसेन गुरुके शिष्य अमितसेन गुरु हुए, जो पवित्र पुन्नाटगणके मुख्य आचार्य थे, जिनकी सौ वर्षसे अधिक अवस्था हुई थी, और जिन्होंने असीम शास्त्रदान करके (विद्यापढ़ाकर) संसारमें वड़ी भारी दानशूरता प्रगट की थी। उनके वड़े भाई और

१. इस लेखके प्रारंभमें (पृष्ठ ९में) नयंधरसे लेकर हरिवंशपुराणके कर्ता जिनसेन तककी गुरुपरम्परा लिखी जा चुकी है, वहां जयसेनस्वामीतककी गुरुनामावली देख लेना चाहिये। ये जयसेनस्वामी षट्खंडसूत्रोंके एक टीकाकार और सुप्रसिद्ध वैयाकरण थे। आदिपुराणकर्त्ताके दीक्षागुरु जयसेन इनसे भिन्न होंगे।

धर्मके सहोदर कीर्तिषेण आचार्य हुए, जो शांत, पूर्णबुद्धि, तपस्वी, और धर्मके मूर्तिमंत शरीर थे। इन कीर्तिषेणके मुख्य शिष्य और नेमिनाथके भक्त जिनसेनसूरिने अपनी अल्पबुद्धिके अनुसार यह हरिवंशपुराण बनाया। यदि इसमें कहीं प्रमादवश भूल हुई हो, तो उसे प्रमादरहित पुराणज्ञ ठीक कर देवें। क्योंकि कहां तो प्रशस्तवंश हरिवंशरूपी पर्वत और कहां मेरी अतिशय न्यूनशक्तिवाली बुद्धि !

पुन्नाटगण चार संघोंमेंसे किस संघके अन्तर्गत है, यह हम निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते हैं। परंतु हरिवंशपुराणकी प्रशस्तिका जो अंतिम श्लोक है, उससे तो ऐसा जान पड़ता है कि, पुन्नाट नामका कोई जुदा संघ ही है। वह श्लोक यह है:—

व्युत्सृष्टापरसंघसन्ततिबृहत्पुन्नाटसंघान्वये
प्राप्तः श्रीजिनसेनसूरिकविना लाभाय बोधे पुनः।
दृष्टोऽयं हरिवंशपुण्यचरितः श्रीपार्वतः सर्वतो
व्याप्ताशामुखमण्डलस्थिरतरः स्थेयात्पृथिव्यां चिरम् ॥

अर्थात् दूसरे संघोंकी सन्ततिको जिसने छोड़ दी है, ऐसे बड़े पुन्नाट संघकी परिपाटीमें होनेवाले श्रीजिनसेनसूरि कविने सम्यग्ज्ञानके पानेके लिये जो यह हरिवंशका पुण्यचरित्ररूपी शोभामय पर्वत देखा है—रचा है, वह सब ओरसे आशाओंके (दिशाओंके वा इच्छाओंके) मुखमंडलको व्याप्त करता हुआ पृथ्वीमें चिरकाल तक स्थिर रहे।

इण्डियन ऐन्टिक्वेरी (१२।१३—१६) में राष्ट्रकूटवंशीय महाराज प्रभूतवर्ष (द्वितीय) का जो दानपत्र प्रकाशित हुआ है

और जिसमें विजयकीर्तिके शिष्य अर्ककीर्ति मुनिको शिलाग्रामके जिनेन्द्रमन्दिरको शकसंवत् ७३५ में पांच ग्राम देनेका जिकर है, उसमें—
' श्रीयापनीयनन्दिसंघपुंनागवृक्षमूलगणे श्रीकीर्त्याचार्यान्वये '
ऐसा पद दिया हुआ है। इससे ऐसा भी जान पड़ता है कि, पुन्नाट वा पुंनागगण उस यापनीय संघका एक गण है, जिसकी गणना जैनाभासोंमें की जाती है। जो हो इस विषयमें हम फिर कभी विचार करेंगे, यहां केवल इतना ही सिद्ध करना है कि, हरिवंशपुराणके कर्त्ता पुन्नागगणके थे और इसलिये वे सेनसंघी जिनसेनसे पृथक् थे।

३ हरिवंशपुराणके प्रारंभमें ग्रन्थकर्त्ताने जिनसेन और उनके गुरु विनयसेनकी प्रशंसा की है। इससे अच्छी तरह स्पष्ट हो रहा है कि, प्रशंसा करनेवाले ग्रन्थकर्त्तासे, प्रशंसित जिनसेन दूसरे हैं।

४ हरिवंशपुराणमें नेमिनाथ भगवानका जन्म सौरीपुरमें लिखा है और उत्तरपुराणमें द्वारिकामें लिखा है। इसके सिवाय हरिवंश और उत्तरपुराणके कथाभागमें और भी कई एक भेद हैं। इससे भी जान पड़ता है कि, आदिपुराणके कर्त्तासे हरिवंशके कर्त्ता पृथक् हैं। क्योंकि उत्तरपुराण आदिपुराणके कर्त्ता जिनसेनके शिष्य गुणभद्रका बनाया हुआ है। यदि हरिवंशपुराणको गुणभद्रके गुरु जिनसेनने ही बनाया होता, तो गुणभद्रस्वामी अपने गुरुके लिखे हुए कथाभागसे विरुद्ध कुछ भी नहीं लिखते, यह निश्चय है। हरिवंशके कर्त्ता दूसरे संघके थे और उत्तरपुराणके कर्त्ता दूसरे संघके थे; इसीलिये कथाभागमें दोनोंका मतभेद दिखलाई देता है।

५ हरिवंशपुराण और आदिपुराणका बहुत विचारपूर्वक स्वाध्याय करनेसे भी अच्छी तरहसे समझमें आता है कि, इनके रचयिता

कवि भिन्न २ हैं। दोनोंकी काव्यशैली, कथानक कहनेका ढंग, उत्प्रेक्षाएँ, कल्पनाएँ, आदि सभीमें बहुत बड़ा अन्तर दिखलाई देता है।

यहां विषयान्तर होता है तो भी हम अपने पाठकोंसे क्षमा मागकर यह कह देना भी आवश्यक समझते हैं कि, हरिवंशपुराणको और पद्मपुराणको जो कई लोगोंने काष्ठासंघी आचार्योंका बनाया हुआ समझ रक्खा है, सो केवल भ्रम है। क्योंकि जिस समय ये दोनों ग्रन्थ बने हैं, उस समय काष्ठासंघका सूत्रपात भी नहीं हुआ था। क्योंकि काष्ठासंघकी उत्पत्ति दर्शनसारके मतसे शकजन्म संवत् ८४२ (शकमृत्यु ७५३) में जिनसेनके सतीर्थ विनयसेनके शिष्य कुमारसेन द्वारा हुई है, जैसा कि हम पूर्वमें लिख चुके हैं (देखो पृष्ठ ३७) और हरिवंशपुराण शकसंवत् ७०५ में बना है, तथा पद्मपुराण उससे भी पहले वीर नि० संवत् १२०३ में अर्थात् शकसंवत् ५९८ में रचा गया है। हरिवंशपुराणके कर्त्ताने रविषेणाचार्यकी स्तुति[1] की है, इससे भी मालूम होता है कि वह हरिवंशसे भी पहलेका है। अतएव पद्मपुराण और हरिवंशपुराण काष्ठासंघी नहीं है। इनका कथाभाग उत्तरपुराणसे नहीं

---

१. यथा—कृतपद्मोदयोद्योता प्रत्यहं परिवर्तिता।
मूर्तिकाव्यमयी लोके रवेरिव रवेःप्रिया॥ ३४॥
वरांगनेव सर्वांगैर्वरांगचरितार्थवाक्।
कस्य नोत्पादयेद्गाढमनुरागं स्वगोचरम्॥ ३५॥
इन श्लोकोंसे यह भी मालूम होता है कि, रविषेणस्वामीने पद्मपुराणके सिवाय वरांगचरित्र नामका भी एक बहुत उत्तम काव्य बनाया है।

मिलता है, केवल इसी एक कारणसे ये काष्ठासंघी नहीं हो सकते हैं।

हरिवंशपुराणके सिवाय अलंकारचिन्तामणि नामका एक अलंकार विषयक ग्रन्थ भी भगवज्जिनसेनके नामसे प्रसिद्ध हो गया है। परंतु सिवाय इसके कि उसके छपानेवालेंने उसके टाइटिलपेजपर ' भगवज्जिनसेनाचार्यकृत ' लिख दिया है, और कोई प्रमाण उसके जिनसेनाचार्यकृत होनेमें नहीं है। लगभग २० वर्ष पहले इस ग्रन्थका काव्याम्बुधि नामक संस्कृत मासिकपत्रमें प्रकाशित होना शुरू हुआ था, जो कि सुप्रसिद्ध जैनविद्वान् पद्मराजपण्डितके द्वारा बेंगलोरसे निकलता था। उसमें उन्होंने इसे अजितसेनाचार्यकृत लिखा था। इससे निश्चय होता है कि वह उक्त आचार्यकृत ही होगा। और यदि अजितसेनाचार्यकृत नहीं है, तो भी इसमें तो किसी प्रकारका सन्देह नहीं है कि, वह भगवज्जिनसेनकृत नहीं है। क्योंकि उसमें:—

संस्कृतं प्राकृतं तस्यापभ्रंशो भूतभाषितम्।
इति भाषा चतस्रोऽपि यान्ति काव्यस्य कायताम्॥ (पृष्ठ २८)

आदि तीन श्लोक उद्धृत किये हैं, जो कि वाग्भटालंकारके हैं और वाग्भटालंकारके कर्त्ता वि० सं० ११७९ में अणहिल्लपुरपाटणमें जिनसेनस्वामीसे तीन सौ वर्ष पीछे हुए हैं। इसके सिवाय

श्रीमत्समन्तभद्राचार्यजिनसेनादिभाषितम्।
लक्ष्यमात्रं लिखामि स्वनामसूचितलक्षणम्॥ (पृष्ठ ३०)

इस श्लोकमें स्वयं कवि ही कह रहा है कि, जिनसेनाचार्य मुझसे भिन्न हैं। आवश्यकता होनेपर इस विषयमें और भी अनेक प्रमाण दिये जा सकते हैं।

जयधवलाटीकाका शेषभाग भगवज्जिनसेनका बनाया हुआ है।
इसके कई प्रमाण पहले दिये जा चुके हैं। उनके सिवाय प्राकृत-शब्दानुशासनके कर्त्ता महाकवि त्रिविक्रमकी प्रशस्तिसे भी इस बातका पता लगता है, कि जिनसेनस्वामीने कोई प्राकृतका ग्रन्थ बनाया है और वह बहुत करके यही संस्कृतप्राकृतमिश्र वीरसेनीया टीकाका शेषभाग होगाः—

श्रुतभर्तुरर्हनन्दित्रैविद्यमुनेः पदाम्बुजभ्रमरः।
श्रीवाणमुकुलकमलद्युमणेरादित्यशर्मणः पौत्रः॥
श्रीमल्लिनाथपुत्रो लक्ष्मीगर्भामृताम्बुधिसुधांशुः।
सोमस्य वृत्तविद्याधाना भ्राता त्रिविक्रमः सुकविः॥
श्रीवीरसेनजिनसेनाचार्यादिवचःपयोधितः कतिचित्।
प्राकृतपदरत्नानि प्राकृतकृतिभूषणाय विचिनोति॥

इसका भावार्थ यह है कि, अर्हनन्दि त्रैविद्यमुनिका शिष्य, आदित्यशर्माका पौत्र, मल्लिनाथका पुत्र, लक्ष्मीमाताके गर्भसमुद्रसे निकला हुआ चन्द्रमा और सोमका भाई त्रिविक्रम सुकवि वीरसेन जिनसेन आदि आचार्योंके वचनसमुद्रसे कुछ प्राकृतपदरूपी रत्न निकालकर अपनी प्राकृतरचनाकी शोभाके लिये संग्रह करता है।

इस तरह जिनसेनस्वामीके बनाये हुए वर्द्धमानपुराण, पार्श्वस्तुति, जयधवला टीका, आदिपुराण, और पार्श्वाभ्युदयकाव्य इन पांच ग्रन्थोंका निश्चित रूपसे पता लगता है। इनके सिवाय

१. भगवज्जिनसेनका बनाया हुआ एक जिनसहस्रनामस्तोत्र भी है, परन्तु वह आदिपुराणके अन्तर्गत है, इसलिये जुदा नहीं गिनाया गया।

द्रोपदीप्रबंध आदि दो चार ग्रन्थ और भी जिनसेनाचार्यके नामसे प्रसिद्ध हैं। परन्तु जब तक स्वतः अच्छी तरहसे न देख लिये जावें तब तक यह कहना कठिन है कि, वे वास्तवमें किसके बनाये हुए हैं। क्योंकि जिनसेन नामके और भी अनेक विद्वान् आचार्य हो गये हैं।

उपर्युक्त पांच ग्रन्थोंमेंसे इस समय पार्श्वाभ्युदय और आदिपुराण ये दो ही ग्रन्थ प्रसिद्ध और प्राप्य हैं, इसलिये हम अपने पाठकोंको यहांपर उन्हींका थोड़ासा परिचय करा देना चाहते हैं।

पार्श्वाभ्युदय—यह ३६४ मन्दाक्रान्ता वृत्तोंका एक खंडकाव्य है। संस्कृत साहित्यमें अपने ढंगका यह एक ही काव्य है। इसमें महाकवि कालिदासका सुप्रसिद्ध काव्य मेघदूत सबका सब वेष्टित है। मेघदूत काव्यमें जितने श्लोक हैं, और उन श्लोकोंके जितने चरण हैं, वे सब एक २ वा दो २ करके इसके प्रत्येक श्लोकमें प्रविष्ट कर लिये गये हैं, अर्थात् मेघदूतके प्रत्येक चरणकी समस्यापूर्ति करके यह कौतुकावह ग्रन्थ रचा गया है। संस्कृतमें मेघदूतके श्लोकोंका अन्तिम चरण ले लेकर तो अनेक ग्रन्थ रचे गये हैं—जैसे नेमिदूत[1], शीलदूत[2], हंसपादाङ्कदूत आदि। परन्तु सम्पूर्ण ग्रन्थको वेष्टित करनेवाला यह एक ही काव्य है। जिस कथाको लेकर इस अपूर्व ग्रन्थकी रचना हुई है, उसका सार भाग इस प्रकार है:—

---

१. यह दि० जैनकवि विक्रमका बनाया हुआ है। इसमें राजीमती और नेमिनाथका चरित्र वर्णित है। छप चुका है। २. यह श्वेताम्बर जैन कवि चारित्रसुन्दर गणिका बनाया हुआ है। इसमें स्थूलभद्राचार्यका चरित्र है। छप चुका है।

" इस भरतक्षेत्रके सुरम्य नामक देशमें एक पोदनपुरी नामकी नगरी थी, जिसमें अरविंद नामक राजा राज्य करता था। राजाके मंत्री विश्वभूतिके कमठ और मरुभूति नामके दो पुत्र थे। अवस्था प्राप्त होनेपर इन दोनोंको मंत्रीका पद प्राप्त हुआ और क्रमसे वरुणा और वसुंधरा नामकी सुन्दर कन्याओंके साथ इन दोनोंका विवाह हो गया। एक वार अरविन्दमहाराज मरुभूतिको अपने साथ लेकर वज्रवीर्य नामक राजाको जीतनेके लिये उसकी राजधानीपर चढ़ गये। इधर कमठका मन मरुभूतिकी स्त्री वसुन्धरापर आसक्त हो रहा था, सो उसने अवसर पाकर अपनी स्त्री वरुणाके द्वारा वसुन्धराको एकान्तमें प्राप्त करके नाना प्रकारके कामकौशलोंसे वशमें कर ली और उसका शील नष्ट कर दिया। परन्तु यह वात छुपी नहीं रही। अरविन्द महाराजको लौटकर अपनी राजधानीमें प्रवेश करनेके पहिले ही इसका पता लग गया, इसलिये उन्होंने मरुभूतिसे पूछा कि, भाईकी स्त्रीके साथ पतित होनेवालेको क्या दंड देना चाहिये? और उसने जो उत्तर दिया उसीके अनुसार कमठको यह आज्ञा देकर नगरीसे निकलवा दिया कि अब वह कभी मेरी दृष्टिके साम्हने न आवे। निदान कमठ मरुभूतिपर क्रुद्ध होकर घरसे निकल गया और वनमें तापसी होकर कायक्लेश करने लगा। मरुभूतिका हृदय वहुत कोमल था; इसलिये जव उसने घर आकर यह सुना कि, मेरा भाई देशसे निकाल दिया गया है, तव वहुत दुःखी हुआ और पश्चात्ताप करता हुआ कमठके पास पहुंचा। वहां उसका क्रोध शान्त करनके लिये

ज्यों ही इसने मस्तक नवाया, त्यों ही दुष्ट कमठने अपने सिरपर (तपस्याके लिये) रक्खी हुई शिलाको पटककर मरुभूतिका प्राण ले लिया। कुछ समय पीछे कमठकी आयु भी पूरी हुई। तदनन्तर इन दोनोंने नाना योनियोंमें नाना जन्म धारण किये और मरुभूतिके जीवने प्रत्येक जन्ममें कमठके द्वारा प्राण खोकर अन्तमें वाराणसीके महाराज विश्वसेनकी ब्राह्मी (वामा) महादेवीके उदरसे पार्श्वनाथ तीर्थंकरका जन्म धारण किया। तथा कमठने शम्बर नामके ज्योतिषीदेवकी पर्याय पाई। जिस समय पार्श्वनाथ भगवान् निष्क्रमण कल्याणके पश्चात् प्रतिमायोग धारण किये हुए विराजमान् थे, उस समय शम्बर आकाशमार्गसे भ्रमण करता हुआ वहांसे निकला और अपने पूर्व वैरको स्मरण करके उनको कष्ट देने लगा।" बस इसी कथानकको लेकर पार्श्वाभ्युदय रचा गया है। इसमें शम्बर देवको यक्ष, ज्योतिर्भवनको अलकापुरी, और यक्षकी वर्षशापको शम्बरकी वर्षशाप मान ली है। इसके सिवाय पूर्व और वर्तमान भवोंकी वर्तमानरूपमें ही कल्पना की है।

जब मेघदूतके कथानकमें और पार्श्वचरित्रके कथानकमें जमीन आसमानका अन्तर है, तब मेघदूतके चरणोंको लेकर पार्श्वचरित्रका

---

१ इससे जान पड़ता है कि प्रथमानुयोगकी कथाओंमें कवि अपनी रचनाको चमत्कृतिपूर्ण और हृदयग्राहिणी बनानेके लिये कुछ न्यूनाधिक्य भी कर सकता है। कथाकी मूलभित्ति मात्रका आश्रय रखके वह उसमें मनमाने प्रसंगोंकी कल्पना कर सकता है। महाकवि कालिदास, भवभूति आदिकी रचनाओंमें भी यह बात देखी जाती है। जिन महाभारतादि ग्रन्थोंकी मूल कथाएं लेकर उन्होंने अपने ग्रन्थ बनाये हैं, उनसे उनके आख्यानोंका पूरा २ सादृश्य नहीं है।

रचना कितना कठिन कार्य है, इसे काव्यरचनाके मर्मज्ञ-पाठक अच्छी तरहसे समझ सकते हैं। ऐसी रचनाओंमें क्लिष्टता और निरसता आनेकी वहुत वड़ी संभावना है। परन्तु पार्श्वाभ्युदय क्लिष्टता और निरसताके दोषोंसे साफ वच गया है। आप इसके किसी भी श्लोकको पढ़ेंगे तो यह नहीं मालूम होगा कि, हम किसी काव्यकी समस्यापूर्ति पढ़ रहे हैं। आपको एक नवीन ही शैलीके काव्यका आस्वाद मिलेगा।

केवल अपने अध्ययनके और अपनी जांचके भरोसे हमारा यह कहना तो वड़े भारी साहसका कार्य होगा कि महाकवि **जिनसेनकी** कविता कविकुलगुरु **कालिदासकी** कविताके जोड़की है। परन्तु इतना कहे विना तो नहीं रहा जाता है कि, कालिदासके ग्रन्थोंका जितना अध्ययन, अध्यापन, आलोचन, और प्रत्यालोचन हुआ है उतना यदि जिनसेनके ग्रन्थोंका हो, तो इस कविश्रेष्ठका आसन संस्कृतसाहित्यमें आशासे भी अधिक ऊंचा हुए विना नहीं रहेगा। खेद इसी वातका है कि, धार्मिक पक्षपातके कारण अजैन विद्वानोंमें तो इन ग्रन्थोंका पठन पाठन नहीं रहा है और जैनियोंमें कोई विद्वान् नहीं है। जो थोड़े वहुत हैं, उनकी विद्या ऐसी निकम्मी और निर्वीर्य है कि, उसके द्वारा इन रत्नोंके गुण प्रगट होनेकी आशा ही नहीं की जा सकती है। तो भी क्या चिन्ता है— **कालो-ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी।** हमको विश्वास है कि कभी न कभी निष्पक्ष विद्वानोंके हाथमें जाकर जिनसेनके ग्रन्थ अपने यथार्थ गुणोंको प्रगट किये विना नहीं रहेंगे।

प्रो० के० बी० पाठक ऐसे ही निष्पक्ष विद्वानोंमेंसे एक हैं। उन्होंने रायल एशियाटिक सुसायटीमें कुमारिलभट्ट और भर्तृहरिके विषयमें जो निबंध पढ़ा था, उसमें जिनसेनस्वामीके विषयमें देखिये क्या राय दी थी;—

जिनसेन lived on into the reign of Amoghawarsha, as he tells us himself in the पार्श्वाभ्युदय. This poem is one of the curiosities of Sanskrit literature. It is atonce the product and the mirror of the literary taste of the age. The first place among Indian poets is alloted to कालिदास by consent of all. जिनसेन, however, claims to be considered a higher genius than the author of Cloud Messenger (मेघदूत).

इसका अभिप्राय यह है कि, "जिनसेन अमोघवर्ष (प्रथम) के राज्य कालमें हुए हैं जैसा कि उन्होंने पार्श्वाभ्युदयमें कहा है। पार्श्वाभ्युदय संस्कृत साहित्यमें एक कौतुकजनक उत्कृष्ट रचना है। यह उस समयके साहित्य स्वादका उत्पादक और दर्पणरूप अनुपम काव्य है। यद्यपि सर्वसाधारणकी सम्मतिसे भारतीय कवियोंमें कालिदासको पहिला स्थान दिया गया है, तथापि जिनसेन मेघदूतके कर्त्ताकी अपेक्षा अधिकतर योग्य समझे जानेके अधिकारी हैं।"

पार्श्वाभ्युदयकी कविताका इस लेखके पाठक भी थोड़ा बहुत रसास्वादन कर सकें, इसलिये हम यहांपर थोड़ेसे पद्य भावार्थसहित उद्धृत किये देते हैं:—

कल्लोलान्तर्वेलिनाशिशिरः शीकरासारवाही
धूतोद्यानो मदमधुलिहां व्यञ्जयत्सिञ्जितानि

" यत्र स्त्रीणां हरति सुरतिग्लानिमङ्गानुकूलः
शिप्रावातः प्रियतम इव प्रार्थनाचाटुकारः ॥ " ११२ ॥

अर्थात्—उस नगरीमें पानीकी लहरोंके संयोगसे शीतल रहनेवाला, पानीके बिन्दुओंको अपने साथ उड़ानेवाला, और बगीचोंको कम्पायमान करनेवाला शिप्रानदीका वायु मतवाले भौंरों सरीखा शब्द करता हुआ चलता है और सुरतक्रीड़ा करनेके लिये चाटुकार (खुशामद) करनेवाले पतिके समान स्त्रियोंके अंगोंसे लगकर उनके (पूर्वकृत) सुरतक्रीड़ाके खेदको दूर कर देता है ।

चित्रं तन्मे यदुपयमनानन्तरं विप्रयुक्ता
त्वत्तः साध्वी सुरतरसिका सा तदा जीवतिस्म ।
मन्ये रक्षत्यसुनिरसनाद्धातुमापद्गताना—
" माशाबन्धः कुसुमसदृशं प्रायशो ह्यङ्गनानाम् " ॥३५॥

शम्बर (कमठचर) यक्ष पार्श्वनाथस्वामीसे कहता है—मुझे यह आश्चर्य मालूम होता है कि विवाहके पश्चात् तुझसे जुदी हो जानेपर तेरी सुरतरसिका और साध्वी स्त्री (वसुंधरा) जीती बनी रही । यद्यपि दुखिनी स्त्रियोंका आशारूपी बंधन फूलके समान कोमल होता है । परन्तु मैं तो समझता हूं कि उनके प्राणोंको निकलनेसे वही बचा लेता है ।

त्वत्सादृश्यं मनसि गुणितं कामुकीनां मनोहृत्
कामावाधां लघयितुमथो दृष्टुकामा विलिख्य ।
यावत्प्रीत्या किल बहुरसं नाथ पश्यामि कोण्णै—
" रस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे ॥ " ३४ सर्ग ४॥

हे नाथ, कामवती स्त्रियोंके मनको हरण करनेवाली, नानारस-मयी और जीमें समाई हुई आपकी मूर्तिको ज्यों ही मैं कामकी पीड़ाको कम करनेके लिये चित्रपटपर लिखती हूं, और प्रीतिपूर्वक देखना चाहती हूं, त्यों ही बार २ बढ़नेवाले गरम गरम आसू मेरी दृष्टिको रोक देते हैं—आपकी मूर्तिके दर्शन नहीं करने देते हैं।

तीव्रावस्थे तपति मदने पुष्पबाणैर्मदङ्गं
तल्पेऽनल्पं दहति च मुहुः पुष्पभेदैः प्रक्लृप्ते ।
तीव्रापाया त्वदुपगमनं स्वप्नमात्रेपि नापं
"क्रूरस्तास्मिन्नापि न सहते सङ्गमं नौ कृतान्तः॥ ३५ युग्मं

हे नाथ, अतिशय तीव्र मदन अपने पुष्पबाणोंसे मेरे अंगोंको संतापित करता है और फूलोंसे रची हुई सेजपर भी मुझे बारंबार जलाता है। इससे अतिशय दुखी होकर मैं आपका समागम चाहती हूं। परन्तु स्वप्नमें भी आपका संगम नहीं होता है—निद्रा ही नहीं आती हैं। हाय! यह निर्दय दैव प्रत्यक्षकी तो कौन कहे, स्वप्नमें भी हमारे संयोगको सहन नहीं करता है।

वित्तानिघ्नः स्मरपरवशां वल्लभां कांचिदेकां
ध्यानव्याजात्स्मराति रमणीं कामुको नूनमेषः ।
अज्ञातं वा स्मरति सुदती या मया दूषिताऽसी—
"त्वां चावश्यं दिवसगणनातत्परामेकपत्नीम्॥" ३३

शम्बर देव पार्श्वनाथस्वामीको ध्यानस्थ देखकर कहता है—या तो यह निर्धन कामी ध्यानके बहानेसे अपनी किसी प्यारी सुन्दरी और कामके वशमें पड़ी हुई स्त्रीका स्मरण करता है अथवा

जिस सुन्दर दन्तोंवाली वसुंधराको मैंने (कमठने) दूषित की थी और जो मेरे आनेके दिनोंकी गिनती किया करती थी, उसका अज्ञात-भावसे ध्यान करता है। इसमें सन्देह नहीं है।

पार्श्वाभ्युदयकी कविताकी वानगीके लिये हम समझते हैं कि इतने श्लोक वस होंगे। काव्यमर्मज्ञ पाठकोंसे यहां हम एक प्रार्थना कर देना उचित समझते हैं कि, जिस समय आप पार्श्वाभ्युदयकी तुलना किसी दूसरे ग्रन्थसे करें, उस समय इस वातको न भूल जावें कि, इसकी रचनामें कवि अपनी कल्पनाको वहुत ही परिमित और संकुचित क्षेत्रमें रखनेके लिये विवश हुआ है। आपको यह देखना चाहिये कि, समस्याके एक नियमित प्रदेशमें इस महाकविकी प्रतिभा और कल्पनाने कैसा मनोहारी नृत्य किया है। यदि आप ऐसा न करेंगे, और किसी स्वतंत्र काव्यके साथ इसको भी स्वतंत्र काव्य मानकर तुलना करेंगे, तो आपकी तुलना न्यायसंगत नहीं होगी। हमको विश्वास है कि, यदि आप इस काव्यको सच्चे समालोचकके नेत्रोंसे देखेंगे, तो योगिराट् पंडिताचार्यके इस श्लोकको दुहराये विना नहीं रहेंगे कि:—

श्रीपार्श्वात्साधुतः साधुः कमठात्खलतः खलः।
पार्श्वाभ्युदयतः काव्यं न च क्वचिदपीष्यते ॥ १७ ॥

अर्थात्—श्रीपार्श्वनाथसे वढ़कर कोई साधु, कमठसे वढ़कर कोई दुष्ट और पार्श्वाभ्युदयसे वढ़कर कोई काव्य नहीं दिखलाई देता है।

पार्श्वाभ्युदय काव्य अमोघवर्षके राज्यकालमें वना है, ऐसा उसकी अन्तःप्रशस्तिके श्लोकसे विदित होता है—

इति विरचितमेतत्काव्यमावेष्ट्य मेघं
वहुगुणमपदोपं कालिदासस्य काव्यम् ।
मलिनितपरकाव्यं तिष्ठतादाशशाङ्कं
भुवनमवतु देवः सर्वदामोघवर्षः ॥

और एक प्रकारसे यह निश्चय है कि, जयधवलाटीकासे जो कि शक ७५९ में पूर्ण हुई है और लगभग ७५० के वनना शुरू हुई होगी पार्श्वाभ्युदय पहिले वना है। तव शक संवत् ७३६ से (जो कि अमोघवर्षके राज्यरोहणका निश्चित समय है) शक ७५० तकके किसी मध्यकालमें पार्श्वाभ्युदय निर्माण हुआ होगा।

पार्श्वाभ्युदयकी रचनाके सम्बन्धमें योगिराट् पंडिताचार्यने जो कि उक्त काव्यके टीकाकार हैं, एक कौतुकजनक कथाका उल्लेख किया है। उसका सारांश यह हैं, कि:—

"कोई कालिदास नामके कवि अपने मेघदूत नामके काव्यको अनेक राजाओंको सुनाते हुए वंकापुरनरेश अमोघवर्षकी सभामें आये और उन्होंने वहां घमंडके साथ दूसरे विद्वानोंकी अवहेलना करते हुए अपना काव्य पढ़कर सुनाया। कालिदासकी यह उद्धतता विनयसेन नामके मुनिको सहन नहीं हुई। इसलिये उन्होंने उसका अहंकार नष्ट करनेके लिये तथा सन्मार्गकी प्रभावना करनेके लिये जिनसेन मुनिसे आग्रह किया। महाकवि जिनसेन 'एकसंधि' थे अर्थात् उन्हें कोई भी श्लोक वा ग्रंथ एक वार सुननेसे कण्ठस्थ हो जाता था। इसलिये उन्होंने मेघदूतके १२० श्लोक तत्काल ही हृदयस्थ कर लिये और फिर हंसकर कहा:—

" पुरातनकृतिस्तेयात्काव्यं रम्यमभूदिदम् "

अर्थात् " यह काव्य एक पुराने ग्रन्थसे चुराया गया है, इसलिये इसमें सुन्दरता आ गई है । " जिनसेनके इन शब्दोंको सुनकर कालिदासको वहुत क्रोध आया । वे बोले:—

" पठतात्कृतिरस्ति चेत् "

अर्थात् " यदि कोई पुराना ग्रन्थ है जिसमेंसे कि मैंने मेघदूत चुराया है, तो पढ़ करके सुनाओ । " जिनसेनने कहा, " ग्रन्थ है तो, परन्तु यहांसे बहुत दूरीपर एक नगरमें है, इसलिये मैं वहांसे आठ दिनके भीतर लाकर फिर सभामें पढ़कर सुनाऊंगा । " यह सुनकर सभापति महाराजने कहा, "अच्छा ठीक है । आजसे आठवें रोज वह ग्रन्थ लाकर सुनाया जावे" और सभा विसर्जन कर दी । इसके पश्चात् अपने स्थानपर आकर महाकवि जिनसेनने पार्श्वाभ्युदय काव्यकी रचना करना शुरू की और उसे एक सप्ताहमें पूर्ण करके आठवें रोज राजसभामें पहुचकर सुना दी । अन्तमें कालिदासको लज्जित तथा गर्वगलित करके स्वामीने यह भी प्रगट कर दिया कि, वास्तवमें कालिदासका काव्य स्वतंत्र है, मैंने केवल इन्हें लज्जित करनेके अभिप्रायसे यह मेघदूतवेष्टित पार्श्वाभ्युदय बनाया है ! "

इसमें जो कालिदासका सम्बन्ध बतलाया है, उससे इस कथाके सत्य होनेमें सन्देह होता है । क्योंकि शककी आठवीं शताब्दिमें ' कालिदास ' नामका कोई भी कवि नहीं हुआ है और यदि हुआ भी हो, तो वह मेघदूतका कर्त्ता तो कदापि नहीं होगा । क्योंकि

यह मत अब प्रायः सर्वमान्य हो गया है कि, शाकुन्तल, कुमार-संभव, मेघदूत, रघुवंश आदि सुप्रसिद्ध और मनोहर काव्योंका रचयिता कालिदास विक्रमादित्यके समयमें हो गया है, और विक्रमादित्य जिनसेनस्वामीसे लगभग ९०० वर्ष पहिले हो गये हैं। एक कालिदासकी संभावना धाराधीश महाराज भोजके समयमें भी की जाती है, परन्तु भोजका समय भी जिनसेनस्वामीसे नहीं मिलता है, वह लगभग दो सौ[1] वर्ष पीछे चला जाता है। इसलिये इस दूसरे कालिदासका भी जिनसेनस्वामीसे साक्षात् होना संभव नहीं हो सकता है।

महाकवि कालिदास जिनसेनस्वामीसे वहुत पहिले हो गये हैं, इसके लिये एक वहुत अच्छा प्रमाण वीजापुर जिलेके आयहोली ग्रामके मेगूती नामक जैनमंदिरका शिलालेख है, जो रविकीर्त्ति नामके जैनविद्वानका लिखा हुआ है। इस लेखमें पहिले महापराक्रमी राजा हर्षको परास्त करनेवाले चौलुक्यवंशीय महाराज सत्याश्रय पुलकेशीकी वहुतसी प्रशंसा करके अन्तमें लिखा है कि,—

यस्याम्बुधित्रयनिवारितशासनस्य
सत्याश्रयस्य परमाप्तवता प्रसादम्।
शैलं जिनेन्द्रभवनं भवनं महिम्नाम्
निर्म्मापितं मतिमता रविकीर्तिनेदम्॥

---

१. परमारराजाओंके लेखोंसे सिद्ध हुआ है कि, राजाभोजकी मृत्यु वि. सं. ११११२ के लगभग हुई थी, और ११११५ में उदयादित्य नामक राजा धाराके सिंहासनपर वैठा था।

येनायोजि न वेश्म स्थिरमर्थविधौ विवेकिना जिनवेश्म ।
सविजयतां रविकीर्तिः कविताश्रितकालिदासभारविकीर्तिः ।

पंचाशत्सु कलौ काले षट्सु पंचशतेषु च
समासु समतीतासु शकानामपि भूभुजाम् ॥

इसमें रविकीर्तिने आपको कालिदास और भारवि सरीखा कीर्तिशाली कवि कहा है और मन्दिर बननेका समय शकसंवत् ५५६ बतलाया है। इससे मालूम होता है कि, कालिदास शक ५५६ से भी बहुत पहिले हो गये हैं। रविकीर्तिके समयमें उनकी किर्ति देशव्यापिनी हो चुकी थी। इसलिये उनका जिनसेनसे साक्षात्कार नहीं हो सकता है।

मेघदूत संस्कृतके सर्वोत्तम काव्योंमें गिना जाता है और वास्तवमें वह है भी बहुत मनोहर। तब रविकीर्ति जिसकी कीर्तिको अपने लिये उपमा देकर आपको गौरवान्वित मानते हैं, उस कालिदासको छोड़कर मेघदूतको किसी अप्रसिद्ध कालिदासका बनाया हुआ कल्पित करना हमें तो ठीक नहीं मालूम होता है।

योगिराट् पंडिताचार्यकी उक्त कथा यों तो पढ़नेमें अच्छी और प्रभावशालिनी मालूम होती है, परंतु उसमें जो कालिदासके प्रति जिनसेनस्वामीकी असूया और असत्यभाषणता प्रगट की गई है, वह एक पूज्य ग्रन्थकारके चारित्रके सर्वथा अयोग्य है। उससे प्रशंसा होना तो दूर रहा, भगवान् जिनसेन जैसे विरागी मनोनिग्रही महात्माके पवित्र चारित्रमें एक बड़ा भारी लांछन लगता है।

इसके सिवाय यह भी तो सोचना चाहिये कि, योगिराट् पंडिताचार्य जिनसेनके समयकालीन तो थे ही नहीं, उनसे लगभग आठ सौ वर्ष पीछे हुए हैं और दूसरे किसी ग्रन्थकारने इस कथाका उल्लेख किया नहीं है, तब यह कैसे कहा जा सकता है कि यह कथा सर्वथा विश्वसनीय है? जनश्रुतियोंके आधारसे लिखी हुई कथाओंमें ऐसी भूलें बहुधा हुआ करती हैं। जो हो, पार्श्वाभ्युदयकी रचना चाहे जिस कारणसे हुई हो; कालिदासको लज्जित करनेके लिये हुई हो अथवा अपना पाण्डित्य प्रगट करनेके लिये हुई हो परन्तु इसमें संदेह नहीं है कि, वह संस्कृतसाहित्यका एक कौतुकजनक रत्न है।

आदिपुराण—महापुराणके दो भाग हैं। पहिले भागका नाम आदिपुराण है और दूसरेका उत्तरपुराण। आदिपुराणमें मुख्यतः प्रथम तीर्थंकर और प्रथम चक्रवर्तीका चरित्र है और उत्तरपुराणमें शेष २३ तीर्थंकरोंका तथा चक्रवर्ती नारायण आदि शलाका पुरुषोंका चरित्र है। पूरे महापूराणमें चौवीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ नारायण, नौ प्रतिनारायण, और नौ बलभद्र इन ६३ शलाकापुरुषोंका चरित्र है। दिगम्बर सम्प्रदायमें प्रथमानुयोगका यह सबसे प्रधान ग्रन्थ है। हमारे यहां जितने पुराण, काव्य, नाटक, आदिके ग्रन्थ हैं, उन सबकी कथाएँ प्रायः इसी महापुराणसे ली गई हैं। **महापुराणकी** श्लोकसंख्या २० हजार है, जिसमेंसे १२००० श्लो-

१. पार्श्वाभ्युदयकी टीकामें 'रत्नमाला' नामके कोशके जगह २ प्रमाण दिये हैं और रत्नमालाका कर्त्ता 'इरुगदण्डनाथ' नामक जैनविद्वान् विजयनगरनरेश हरिहरराजके समय शंकसंवत् १३२१ में हुआ है और इससे पीछे योगिराट् पंडिताचार्य हुए होंगे।

कोंमें आदिपुराण पूर्ण हुआ है और शेष ८००० श्लोकोंमें उत्तर-पुराण समाप्त हुआ है। आदिपुराणमें ४७ पर्व वा अध्याय हैं। जिनमें ४२ पर्व पूरे और ४३ वें पर्वके तीन श्लोक जिनसेनस्वामीके बनाये हुए हैं। शेष पांच पर्व (१६२० श्लोक) गुणभद्रस्वामीके बनाये हुए हैं। भगवान् **जिनसेन** ४३ वें पर्वके केवल तीन श्लोक ही बना पाये थे कि; उनका देहोत्सर्ग हो गया। कहते हैं कि, जिस समय जिनसेनस्वामीने महापुराणका प्रथम मंगलाचरणका श्लोक बनाया था; उस समय उन्होंने अपने शिष्योंसे कह दिया था कि; यह ग्रन्थ मुझसे पूर्ण नहीं होगा। मंगलाचरणके श्लोकमें जो अक्षर और शब्द योजित हुए थे; उनके निमित्तसे उस विशाल बुद्धिशाली महात्माने यह भविष्य कहा था और निदान वह पूर्ण हुआ! शेष ग्रन्थ गुणभद्राचार्यने पूर्ण करके अपनी गुरुभक्तिका परिचय दिया।

पं० कुप्पूस्वामी शास्त्री आदि कई एक विद्वानोंका ऐसा ख्याल है कि, महापुराण जैनियोंका सबसे पहिला ग्रन्थ है। इसके पहिले उनका और कोई पुराण ग्रन्थ नहीं था। और इसके लिये वे हस्तिमल्लि कविके विक्रान्तकौरवीय नाटकका यह श्लोक पेश करते हैं,—

> तच्छिष्यप्रवरो जातो जिनसेनमुनीश्वरः।
> यद्वाङ्मयं पुरोरासीत पुराणं प्रथमं भुवि॥

इसका अभिप्राय यह है कि, उनके (वीरसेनके) शिष्य जिनसेन हुए, जिन्होंने पुरुदेवका अर्थात् आदिनाथ भगवानका मुख्य पुराण बनाया। इस श्लोकमें जो 'प्रथम' पद है, उसका अर्थ

पहला:' नहीं, किन्तु 'मुख्य' करना चाहिए। श्रीयुक्त कुप्पूस्वामीने इसका अर्थ 'पहला' करके जीवंधरचरित्रकी भूमिकामें लिख दिया है कि, "जिनसेनाचार्यः पुराणकृतामादिमो जैनेषु।" अर्थात् जैनपुराण बनानेवालोंमें जिनसेन सबके पहिले हैं। परंतु यह एक भ्रम है। जिनसेनस्वामीके पहिले जैनियोंमें कई पुराणकर्त्ता हो गये हैं। हां! यह बात दूसरी है कि, आदिपुराण उन सम्पूर्ण पुराणोंमें अपने ढंगका सबसे प्रधान ग्रन्थ बना और यही अभिप्राय हस्तिमल्लके दिये हुए 'प्रथमं' पदसे सूचित होता है। जिनसेनस्वामीके शिष्य गुणभद्राचार्य उत्तरपुराणकी प्रशस्तिमें स्वयं इस बातको स्वीकार करते हैं कि, आदिपुराणको जिनसेनस्वामीने कविपरमेश्वर नामके कविकी बनाई हुई गद्यकथाके आधारसे बनाया है। देखिये, प्रशस्तिका १६ वाँ श्लोकः—

कविपरमेश्वरनिगदितगद्यकथामातृकं पुरोश्चरितम्।
सकलछन्दोलङ्कृतिलक्ष्यं सूक्ष्मार्थगूढपदरचनम्॥

कविपरमेश्वर जिनका दूसरा नाम कविपरमेष्ठी भी है, कर्नाटक प्रान्तमें एक बड़े नामी कवि हो गये हैं। कर्नाटककविचरित्र नामक ग्रन्थके कर्त्ता कहते हैं कि, कनड़ीके सुप्रसिद्ध कवि आदिपंपने उनकी बड़ी प्रशंसा की है। और पंपकवि ही क्यों, आदिपुराणमें स्वयं जिनसेनस्वामीने उनको पूज्य मानकर स्मरण किया है—

स पूज्यः कविभिर्लोके कवीनां परमेश्वरः।
वागर्थसंग्रहं कृत्स्नं पुराणं यः समग्रहीत्॥ ६०॥

अर्थात्:—वह कविपरमेश्वर[१] कवियोंके द्वारा पूजने योग्य है, जिसने वाणी और उसके अर्थका जिसमें संग्रह है, ऐसा सम्पूर्ण पुराण बनाया। इससे यह भी मालूम पड़ता है कि, कविपरमेष्ठीका बनाया हुआ एक ऐसा पुराण है, जिसमें समस्त ६३ शलाका पुरुषोंका चरित्र होगा और प्रायः उसीके आधारसे महापुराणकी रचना हुई होगी।

और यही एक क्यों बीसों प्रमाण इस विषयमें दिये जा सकते हैं कि, आदिपुराणके पहिले अनेक पुराण ग्रन्थ थे, जिनमें आदिपुराणकी कथाका अस्तित्व था। हरिवंशपुराण, पद्मपुराणादि ग्रन्थ आदिपुराणके पहिलेके बने हुए हैं और उनमें आदिपुराणका बहुतसा कथाभाग मिलता है। इसके शिवाय आदिपुराणकी उत्थानिकाके निम्न श्लोकोंसे भी मालूम होता है कि, जिनसेनके पहिले अनेक पुराणकार हो गये हैं,—

> नमः पुराणकारेभ्यो यद्वक्त्राब्जे सरस्वती।
> येषामन्यकवित्वस्य सूत्रपातायितं वचः॥ ४१॥
> धर्मसूत्रानुगा हृद्या यस्य वाङ्मणयोऽमलाः।
> कथालङ्कारतां भेजुः काणभिक्षुर्जयत्यसौ॥ ५१॥

पहिले श्लोकमें पुराण बनानेवालोंको नमस्कार किया है, जिनके वचनोंके आधारसे दूसरोंने ग्रन्थ बनाये हैं और दूसरेमें काणभिक्षु

---

१. आदिपुराणके भाषा और मराठी टीकाकारोंने इस श्लोकके ऊपरके श्लोकमें जिन **जयसेन**की प्रशंसा की है, कविपरमेश्वरको उनका विशेषण (कवियोंमें श्रेष्ठ) समझ लिया है। परन्तु यह केवल भ्रम है। कविपरमेश्वर एक कविका नाम है।

नामक कविकी प्रशंसा की है, जिसने किसी कथाग्रन्थकी रचना की है।

आदिपुराण जैनसाहित्यका एक परमोत्तम ग्रन्थ है। यह केवल पुराण ही नहीं है। इसमें कविने अपने रचनाकौशलसे जैनियोंके कथा, चरित्र, भूगोल और द्रव्य इन चारों ही अनुयोगोके विषयोंको संग्रह कर दिये हैं। जैनधर्मके जितने मान्य तत्त्व हैं, प्रायः वे सब ही इसमें कहीं न कहीं कथाका सम्बन्ध मिलाकर किसी न किसी रूपमें कह दिये गये हैं। इसकी प्रमाणता भी बहुत है। पीछेके ग्रन्थकारोंने इस ग्रन्थके प्रमाण 'आर्ष' कहकर बड़े आदरके साथ उद्धृत किये हैं। पौराणिकोंके सिवाय कवियोंमें भी इसका बड़ा आदर है। वे इसे एक अद्वितीय महाकाव्य समझते आ रहे हैं। और है भी यह ऐसा ही। महाकाव्यके सारे लक्षण इसमें मिलते हैं। यह शृंगारादि नवों रसोंसे ओतप्रोत भरा हुआ है। इसकी कविता बहुत ऊंचे दर्जेकी है। पदलालित्य, अर्थसौष्ठव, सरलता, गंभीरता, कोमलता आदि कविताके समस्त गुणोंसे वह परिपूर्ण है। प्राकृतिक दृश्योंके तथा मानसिक विचारोंके भी इसमें अच्छे चित्र खींचे हैं। वह न केवल पाठकोंके मनोरंजनकी ही शक्ति रखती है, किन्तु मनोरंजनपूर्वक सुखका मार्ग दिखाती है और संसारके कष्टोंसे छूटनेके लिये उत्साहित करती है। यदि वर्तमान रुचिके पाठकोंको प्रसन्न न कर सकनेका इस ग्रन्थमें कुछ दोष है, तो वह यही कि, इसकी कविता शृंगारादि रसोंमें तन्मय करके भी उसमें स्थिर नहीं रहने देती है—कुछ ही समय पीछे उन रसोंमें विरसताका भान करा देती है। पर

ग्रन्थकर्त्ताको इस बातकी कुछ परवा नहीं है। वे अपने इस दोषको ही गुण समझते हैं। वे कहते हैं:—

धर्मानुबन्धिनी या स्यात्कविता सैव शस्यते।
शेषा पापास्रवायैव सुप्रयुक्तापि जायते ॥ ६३ ॥
परे तुष्यन्तु वा मा वा कविः स्वार्थं प्रतीहताम्।
न पराराधनाच्छ्रेयः श्रेयः सन्मार्गदेशनात् ॥ ७६ ॥

(प्रथमपर्व)

अर्थात् जो कविता धर्मसम्बन्धी है, उसीकी प्रशंसा की जाती है। पर जो धर्म्मसम्बन्धी नहीं है, वह चाहे जैसी अच्छी बनी हो, पापका आस्रव करनेवाली ही होगी। दूसरे लोग चाहे प्रसन्न हों, चाहे न हों, कविको अपना स्वार्थ (आत्महित) देखना चाहिये। क्योंकि दूसरोंकी आराधना करनेसे—वा उन्हें राजी रखनेसे कल्याण नहीं होता है। कल्याण होता है, सच्चे धर्मका उपदेश देनेसे। अभिप्राय यह कि, कविको धर्मोपदेशमय कविता करनी चाहिये। इस बातकी परवा नहीं करना चाहिये कि, इससे कोई प्रसन्न होगा या नहीं। और सब कोई प्रसन्न हो भी तो नहीं सकते हैं। क्योंकि लोगोंकी रुचि ही भिन्न २ होती है। किसीको शब्दसौन्दर्य प्रिय है, कोई भावसौष्टवको पसन्द करता है, किसीको बड़े २ समास अच्छे लगते हैं, कोई छोटे २ सरल पदोंसे प्रसन्न होता है, किसीको श्लेषादि अलंकारोंसे ढकी हुई कविता प्यारी लगती है, किसीका मन उसके प्राकृतिक स्पष्ट रूपपर मोहित होता है और कोई इन गुणोंसे भिन्न जुदी ही बातोंके प्रेमी हैं। फिर सबके प्रसन्न करनेकी इच्छा कैसे पूर्ण हो सकती है?

जो लोग इस पूज्य धर्मात्माके इस उद्देश्यको समझ लेंगे और उसपर दृष्टि रखके फिर आदिपुराणका अध्ययन करेंगे, हमको विश्वास है कि, वे इसको एक अतिशय पूज्य और पवित्र काव्य स्वीकार करनेमें कभी संकुचीत नहीं होंगे। उन्हें इस काव्यके सम्मुख दूसरे वासनाविलसित काव्य फीके मालूम होने लगेंगे। क्योंकि—

त एव कवयो लोके त एव च विचक्षणाः।
येषां धर्मकथाङ्गत्वं भारती प्रतिपद्यते ॥ ६२ ॥

(प्रथमपर्व)

अर्थात्—पृथ्वीमें वे ही कवि हैं और वे ही पंडित हैं, जिनकी वाणी धर्मकथाका प्रतिपादन करती है।

आदिपुराणकी कविताके विषयमें गुणभद्रस्वामीने कहा है:—

कविपरमेश्वरनिगदितगद्यकथामातृकं पुरोश्चरितम्।
सकलछन्दोलङ्कृतिलक्ष्यं सूक्ष्मार्थगूढपदरचनम्।
व्यावर्णनोरुसारं साक्षात्कृतसर्वशास्त्रसद्भावम्।
अपहस्तितान्यकाव्यं श्रव्यं व्युत्पन्नमतिभिरादेयम् ॥
जिनसेनभगवतोक्तं मिथ्याकविदर्पदलनमतिललितम्।
सिद्धान्तोपनिवन्धनकर्त्रा भर्त्रा चिराद्विनेयानाम् ॥
अतिविस्तरभीरुत्वादवशिष्टं संगृहीतममलधिया।
गुणभद्रसूरिणेदं प्रहीणकालानुरोधेन ॥ १९ ॥

अर्थात् यह आदिपुराण कविपरमेश्वरकी कही हुई गद्यकथाके आधारसे बनाया गया है। इसमें सारे छन्द और अलंकारोंके उदाहरण हैं, इसकी रचना सूक्ष्म अर्थ और गूढपदोंवाली है,

इसका वर्णन बहुत ही अच्छा है। इसके पढ़नेसे सारे शास्त्रोंके उत्कृष्ट पदार्थ साक्षात् हो जाते हैं अर्थात् इसमें सम्पूर्ण शास्त्रोंके रहस्यका संग्रह है। दूसरे काव्योंको यह तिरस्कृत करता है अर्थात् इसके समान और कोई अच्छा काव्य नहीं है। यह श्रवण करनेके योग्य है वा श्रव्य काव्य है और विद्वानोंके ग्रहण करने योग्य है, मिथ्या कवियोंके अभिमानको यह नष्ट कर देता है और बहुत ही सुन्दर है। इसे सिद्धान्तकी टीका करनेवाले और चिरकाल तक शिष्योंका शासन करनेवाले जिनसेनस्वामीने बनाया था। इसका अवशिष्ट भाग (९ पर्व) निर्मल बुद्धिशाली गुणभद्रसूरिने बहुत विस्तारके भयसे और हीनकालके अनुरोधसे थोड़ेमें संग्रह किया।

एक और कविने कहा है:—

यदि सकलकवीन्द्रप्रोक्तसूक्तप्रचार-
श्रवणसरसचेतास्तत्त्वमेवं सखे स्याः।
कविवरजिनसेनाचार्यवक्त्रारविन्द-
प्रणिगदितपुराणाकर्णनाभ्यर्णकर्णः॥

अर्थात्—हे मित्र! यदि तुम सारे कवियोंकी सूक्तियोंको सुनकर सरस हृदय बनना चाहते हो, तो कविवर जिनसेनाचार्यके मुखकमलसे उदित हुए आदिपुराणके सुननेके लिये अपने कानोंको समीप लाओ।

समग्र महापुराणकी प्रशंसामें कहा है:—

धर्मोत्र मुक्तिपदमत्र कवित्वमत्र
तीर्थेशिनां चरितमत्र महापुराणे।

यद्वा कवीन्द्रजिनसेनमुखारविन्द-
निर्यद्वचांसि न मनांसि हरन्ति केषाम् ॥

अर्थात्—इस महापुराणमें धर्म है, मुक्तिका मार्ग है, कविता है और तीर्थंकरोंका चरित है। इसके सिवाय इसमें (पूर्व भागमें) जो जिनसेन कवीन्द्रके मुखकमलसे निकले हुए वचन हैं, वे किसके मनको हरण नहीं करेंगे ?

आदिपुराणमें सुभाषित कविता जितनी चाहिये उतनी मिल सकती है। इसके लिये कहा है:—

यथा महार्घ्यरत्नानां प्रसूतिर्मकरालयात् ।
तथैव सूक्तरत्नानां प्रभवोऽस्मात्पुराणतः ॥ १६ ॥
सुदुर्लभं यदन्यत्र चिरादपि सुभाषितम् ।
सुलभं स्वैरसंग्राह्यं तदिहास्ति पदे पदे ॥ २२ ॥

अर्थात्—जैसे बड़े २ कीमती रत्न समुद्रसे उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकारसे सूक्त वा सुभाषितरूपी रत्न इस पुराणसे। अन्य ग्रन्थोंमें जो कठिनाईसे भी नहीं मिल सकते हैं, वे सुभाषितपद्य इस ग्रन्थमें स्थान स्थानपर सहज ही जितने चाहो उतने मिल सकते हैं।

आदिपुराण जैसे काव्यकी कविताकी उत्तमता दूसरेके कहने-की अपेक्षा स्वयं अनुभव करनेसे ही भली भांति मालूम हो सकती है। इसलिये हम अपने पाठकोंसे प्रेरणा करते हैं कि वे इस अद्वितीय ग्रन्थको स्वयं विचारपूर्वक स्वाध्याय करके देखें। यह ग्रन्थ यद्यपि अभी तक मूल और हिन्दी टीकायुक्त नहीं छपा है, तो भी मराठी

टीकासहित छप गया है। इसलिये जिन भाइयोंको संस्कृतका ज्ञान है अथवा मराठीका परिचय है, उन्हें इसकी मधुर और सरस कविताका आस्वादन अवश्य करना चाहिये।

इस १२ हजार श्लोकोंके बड़े भारी ग्रन्थमेंसे भिन्न २ रुचिके पाठकोंको अच्छे लगें, ऐसे दश पांच श्लोक नहीं चुने जा सकते हैं, तो भी हम अपने स्वाध्यायके समय नोट किये हुए कुछ श्लोकोंको यहां भावार्थसहित प्रकाशित कर देते हैं। वे सबको नहीं, तो हमारीसी रुचिवाले पाठकोंको अवश्य प्यारे लगेंगे—

चक्रवर्तीके दीक्षा लेजानेपर लक्ष्मीमती रानीके भेजे हुए दूत वज्रजंघ महाराजके पास आकाशमार्गसे जा रहे हैं। देखिये, उस समयका कविने कैसा अच्छा प्राकृतिक चित्र खींचा है:—

क्वचिज्जलधरांस्तुङ्गान्स्वमार्गपरिरोधिनः।
विभिन्दन्तौ पयोबिन्दून्क्षरतोऽश्रुलवानिव ॥ १०० ॥
तौ पश्यन्तौ नदी दूरात्तन्वीरत्यन्तपाण्डुराः।
घनागमस्य कान्तस्य विरहेणेव कर्शिताः ॥ १०१ ॥
मन्वानौ दूरभावेन पारिमाण्डल्यमागतान्।
भूमाविव निमग्नाङ्गानर्कतापभयाद्रिरीन् ॥ १०२ ॥
दीर्घिकाम्भो भुवोन्यस्तामिवैकमतिवर्तुलम्।
तिलकं दूरताहेतोः प्रेक्षमाणावनुक्षणम् ॥ १०३ ॥ [पर्व ८]

कहीं २ वे दूत अपने मार्गको रोकनेवाले बड़े २ मेघोंको भेदते हुए जाते हैं। उस समय उनमेंसे जो पानीकी बूंदें झरती हैं, वे उनके आंसुओं सरीखी जान पड़ती हैं। नीचेकी नदी बहुत ऊंचाईके कारण उन्हें पतली

और धूसरी दिखलाई देती है, सो जान पड़ता है कि वह अपने प्यारे मेघके विरहसे कृश हो रही है। दूरसे गोलाकार और छोटे दिखनेवाले पर्वत उन्हें ऐसे मालूम होते हैं कि ये सूर्यके तापके डरसे जमीनमें घुसे जा रहे हैं। इसी प्रकारसे विस्तृत बावड़ीका पानी अतिशय गुलाई लिये हुए उन्हें ऐसा ज्ञात होता है कि; पृथ्वीने अपने मस्तकमें यह एक टीका लगा लिया है।

नभः स्थगितमस्माभिः सुरगोपैस्तथा मही।
क्व यातेति न्यषेधन्नु पथिकान्गर्जिता घनाः॥ १५ [पर्व ९]

अर्थात्—वर्षाऋतुमें बटोहियोंसे बादल गर्ज करके कहते हैं कि आकाशको तो हमने सब ओरसे घेर लिया है और पृथ्वीको इन्द्रवधूटियों (एक प्रकारका लाल कीड़ा) ने ढक लिया है, अब देखें, तुम कहां जाते हो?

वंशैः संदष्टमालोक्य तासां तु दशनच्छदम्।
वीणालाबुभिराश्लेषि घनं तत्स्तनमण्डलम्॥ १०८ [पर्व १२]

अर्थात्—वंशी वा बांसुरीको एक अप्सराके होठोंका चुम्बन करती देखकर वीणाकी अलाबुने (नीचेके तुंबेने) दूसरी देवांगनाके सघन कुचमंडलोंसे अलिंगन कर लिया। यह चुम्बन करती है, तो मैं कुचोंका स्पर्श क्यों न करूं?

कृतावगाहनाः स्नातुं स्तनदघ्नं सरोजलम्।
रूपसौन्दर्यलोभेन तदगारीदिवाङ्गनाः॥ १६० [पर्व ८]

उस सरोवरमें बहुतसी स्त्रियां अपने कुचोंतकके शरीरको डुबाकर

स्नान करती थीं, सो ऐसा जान पड़ता था कि उस सरोवरके जलने उन्हें रूप और सुन्दरताके लोभसे निगल लिया है।

धुन्वानाश्चामरारण्यस्य ता ममोत्प्रेक्षते मनः।
जनापवादजं लक्ष्म्या रजोऽपासितुमुद्यताः॥ ४९ [पर्व ११]

महाराज वज्रनाभिपर चमर ढोरती हुई दासियोंको देखकर मेरे मनमें ऐसी उत्प्रेक्षा होती है कि वे लक्ष्मीके अपवादसे उठी हुई धूलको उड़ा रही हैं। अभिप्राय यह है कि लक्ष्मी जिसके पास होती है उसमें मूर्खता, अभिमानता, निर्दयता आदि दोष होते हैं। यह जो एक प्रकारकी बदनामीकी रज है, वह इस लक्ष्मीवान् महाराजपर नहीं पड़ जाय, इसका वे यत्न कर रही हैं। अर्थात् प्रगट कर रही हैं कि यह लक्ष्मीवान् होकर भी विद्वान् निरभिमानी धर्मात्मा है। हमारे समाजके धनवानोंको संतोषित होना चाहिये कि पहलेके धनी भी मूर्खतादि गुणोंमें कम नेकनाम नहीं थे।

यत्र शालिवनोपान्ते खात्पतन्तीं शुकावलीम्।
शालिगोप्योनुमन्यन्ते दधतीं तोरणश्रियम्॥ ६ [पर्व ४]

अर्थात्—उस देशके धान्यके खेतोंके समीप जो आकाशसे तोतोंकी पंक्ति उतरती थी, उसे देखकर ग्रामीण स्त्रियां विचारती थीं कि क्या यह तोरण है?

लक्ष्मीं चलां विनिर्माय यदाघो वेधसार्जितम्।
तन्निर्माणेन तन्नूनं तेन प्रक्षालितं तदा॥ ८२ [पर्व ६]

चंचल लक्ष्मीको बनाकर विधाताने जो पाप किया था, मानो

इस श्रीमतीको बनाकर उसने उसे धो डाला। अभिप्राय यह कि श्रीमती अचल वा गंभीर थी।

> चामीकरमयैर्यन्त्रैर्जलकेलिविधावसौ।
> प्रियामुखाब्जमम्भोभिरसिञ्चत्कोणितेक्षणम् ॥ २३ ॥
> साप्यस्य मुखमासेक्तुं कृतवाञ्छापि नाशकत्।
> स्तनांशुके गलत्याविर्भवद्व्रीडापराङ्मुखी ॥ २४ [पर्व ८]

जलक्रीड़ाके समय वह वज्रजंघकुमार आघातके भयसे नेत्र संकुचित करती हुई प्यारी श्रीमतीके मुखको सोनेकी पिचकारीसे भिगो देता है। इधर श्रीमती भी अपने पतिके मुखपर पिचकारी छोड़ना चाहती है, परंतु नहीं छोड़ सकती है। क्योंकि ज्यों ही वह प्रयत्न करती है, त्यों ही उसके कुचोंपरका वस्त्र नीचे खिसक जाता है और तब लज्जा उसे रोक देती है।

आदिपुराण जिनसेनस्वामीकी सबसे अन्तिम रचना है। यह पार्श्वाभ्युदयसे लगभग ३० वर्ष पीछे और वर्द्धमानपुराणसे लगभग ६० वर्ष पीछे, जब कि कविकी अवस्था ९० वर्षसे ऊपर होगी, रचा गया है। इसीसे इसमें जिनसेनस्वामीके सारे जीवनके अध्ययनका और विचारोंका सार संग्रह हो गया है। इसमें कविके कवित्वका परिपाक हुआ दिखलाई देता है। इतनी आयुके रचे हुए ग्रन्थ बहुत कम विद्वानोंके पाये जाते हैं और जो पाये जाते हैं, वे अनुभूत और सिद्ध सिद्धान्तोंके आकर होते हैं। आदिपुराणके स्वाध्यायसे जैनधर्मके गूढ़से गूढ़ रहस्योंका ज्ञान होता है और साथ ही उच्चकोटिके काव्यका सुमधुर सुस्निग्ध आस्वाद मिलता है। मेरे

विचारसे इसकी कवितामें जो सुन्दरता, कोमलता और स्वाभाविकता है, वह पार्श्वाभ्युदयमें भी नहीं है।

आदिपुराणके अन्तके ५ सर्ग गुणभद्रस्वामीके बनाये हुए हैं; ऐसा पूर्वमें कहा जा चुका है। ये पांच सर्ग आदिपुराणमें शामिल करनेके सर्वथा योग्य हुए हैं। अपने पूज्य गुरुकी कविताकी समता करनेमें गुणभद्रस्वामीने वैसी ही सफलता प्राप्त की है, जैसी कि बाण-भट्टके पुत्रने अपने पिताकी अधूरी कादम्बरीको पूर्ण करनेमें पाई है। यह कार्य गुणभद्रके सिवाय दूसरेसे शायद ही ऐसा अच्छा होता। यह लेख इच्छासे बहुत अधिक बढ़ गया है, इसलिये गुणभद्रस्वामीका कवित्व कैसा है यह बतलानेके लिये अधिक स्थान न रोक कर हम उस भूमिकाके थोड़ेसे श्लोक ही यहां उद्धृत कर देते हैं, जो कि उन्होंने आदिपुराणका शेष भाग पूर्ण करनेका प्रारंभ करते समय लिखे हैं—

निर्मितोऽस्य पुराणस्य सर्वसारो महात्मभिः।
तच्छेषे यतमानानां प्रसादस्येव नः श्रमः॥ ११॥

अर्थात् इस पुराणका मुख्य सारभाग महात्मा जिनसेन बना चुके हैं। अब उसके शेष भागको पूरा करनेका हमारा परिश्रम वैसा ही है, जैसा एक महलके थोड़ेसे बाकी रहे कार्यको पूरा करना।

इक्षोरिवास्य पूर्वार्द्धमेवाभावि रसावहम्।
यथा तथाऽस्तु निष्पत्तिरिति प्रारभ्यते मया॥ १४॥

जिस तरह गन्नेका पूर्वभाग (नीचेका हिस्सा) अतिशय रसीला होता है, उसी प्रकारसे इस आदिपुराणका पूर्वभाग हुआ है। अब

आगेके भागमें गन्नेके ऊपरके भाग समान जैसे तैसे रसकी प्राप्ति होगी, ऐसा समझकर मैं उसे प्रारंभ करता हूं। अभिप्राय यह कि वह पूर्वार्धके समान सरस नहीं हो सकेगा। कैसी सुन्दर उपमा है।

अथवाऽग्रं भवेदस्य विरसं नेति निश्चयः।
धर्माग्रं ननु केनापि नादर्शि विरसं क्वचित् ॥ १६ ॥

अथवा ऐसा भी निश्चय होता है कि, इसका अग्रभाग विरस नहीं होगा। क्योंकि धर्मके अन्तको किसीने कभी विरस होते नहीं देखा है—सरस ही होता है और यह धर्मस्वरूप है।

गुरूणामेव माहात्म्यं यदपि स्वादु मद्वचः।
तरूणां हि स्वभावोऽसौ यत्फलं स्वादु जायते ॥ १७ ॥

यदि मेरे वचन सरस वा सुस्वादु हों, तो इसमें मेरे गुरुमहाराजका ही माहात्म्य समझना चाहिये। क्योंकि यह वृक्षोंका ही स्वभाव है—उन्हींकी खूवी है, जो उनके फल मीठे होते हैं।

निर्यान्ति हृदयाद्वाचो हृदि मे गुरवः स्थिताः।
ते तत्र संस्करिष्यन्ते तन्न मेऽत्र परिश्रमः ॥ १८ ॥

हृदयसे वाणीकी उत्पत्ति होती है और हृदयमें मेरे गुरुमहाराज विराज़मान हैं, सो वे वहांपर बैठे हुए संस्कार करेंगे ही (रचना करेंगे ही) इसलिये मुझे इस शेष भागके रचनेमें परिश्रम नहीं करना पड़ेगा।

मतिर्मे केवलं सूते कृतिं राज्ञीव तत्सुताम्।
धियस्तां वर्तयिष्यन्ति धात्रीकल्पाः कवीशिनाम् ॥ २२ ॥

रानी जैसे अपनी पुत्रीको केवल उत्पन्न करती है—पालती नहीं उसी प्रकारसे मेरी बुद्धि इस काव्यरूपी कृतिको केवल उत्पन्न करेगी। परन्तु उसका पालनपोषण दाईके समान कवीश्वरोंकी बुद्धि ही करेगी।

सत्कवेरर्जुनस्येव शराः शब्दास्तु योजिताः।
कर्णे दुस्संस्कृतं प्राप्य तुदन्ति हृदयं भृशम्॥ ३९॥

अर्जुनक छोड़े हुए वाण जिस तरह दुस्संस्कृत अर्थात् दुस्सासनके बहकाये हुए कर्णके हृदयमें अतिशय पीड़ा उत्पन्न करते थे, उसी प्रकारसे सत्कविके योजित किये हुए शब्द दुस्संस्कृत अर्थात् बुरे संस्कारोंवाले पुरुषोंके कानोंके समीप पहुंचकर उनके हृदयमें चुभते हैं—उन्हें बुरे लगते हैं।

पुराणं मार्गमासाद्य जिनसेनानुगा ध्रुवम्।
भवाब्धेः पारमिच्छन्ति पुराणस्य किमुच्यते॥ ४०॥

भगवान् जिनसेनके अनुयायी उनके पुराणके मार्गके आश्रयसे संसाररूपी समुद्रके भी पार पहुंचनेकी इच्छा करते हैं, फिर मेरे लिये इस पुराणसागरका पार करना क्या कठिन है? अर्थात् यह तो सहज ही पूरा हो जायगा।

गुणभद्रस्वामीके बनाये हुए अभीतक तीन ग्रन्थ प्राप्य हैं, एक आदिपुराणका शेषभाग तथा उत्तरपुराण, दूसरा आत्मानुशासन और तीसरा जिनदत्त चरित्र। इनमेंसे आदिपुराणके शेष भागके विषयमें तो ऊपर कहा जा चुका है। उत्तरपुराणका अभीतक मैंने स्वाध्याय नहीं किया है। इसलिये उसकी विशेष आलोचना तो नहीं

की जा सकती है; तो भी आदिपुराणके शेषभागके समान उसकी कविता भी अच्छी होगी। तंजौरके श्रीयुक्त कुप्पूस्वामीशास्त्रीने जीवंधरचरित्रको उत्तरपुराणसे जुदा निकालकर छपवाया है, उसे विद्वानोंने बहुत पसन्द किया है, इससे भी उत्तरपुराणके कवित्वकी उत्तमताका अनुमान होता है। उसमें तेईस तीर्थंकरोंका और उनके तीर्थमें होनेवाले शलाकापुरुषोंका चरित्र है। जितनी संक्षेपतासे यह ग्रन्थ पूर्ण किया गया है, यदि उतनी संक्षेपतासे नहीं किया जाता, आदिपुराणके समान विस्तारसे रचा जाता तो इससे कई गुना होता। पर जितना है, उतना भी कुछ थोड़ा नहीं है, आठ हजार श्लोकोंमें है।

आत्मानुशासन—यह २७२ पद्योंका छोटासा, परन्तु बहुत ही उत्तम ग्रन्थ है। इसकी रचना कब हुई है? इसके जाननेका कोई साधन नहीं है। क्योंकि इसके अन्तमें सिवा निम्नलिखित श्लोकके जिसमें कि ग्रन्थकर्त्ताका और उसके गुरुका उल्लेख है और कुछ भी नहीं लिखा है—

जिनसेनाचार्य्यपादस्मरणाधीनचेतसाम्।
गुणभद्रभदन्तानां कृतिरात्मानुशासनम्॥

तो भी ऐसा अनुमान होता है कि, यह महापुराणका शेष भाग पूर्ण करनेके पहिले बनाया गया होगा। क्योंकि इस ग्रन्थकी भाषाटीकाके प्रारंभमें जो कि स्वर्गीय पं० टोडरमल्लजीकी बनाई हुई है, किसी संस्कृतटीकाके आधारसे लिखा है कि "यह आत्मानुशासन गुणभद्रस्वामीने लोकसेन मुनिके सम्बोधनके लिये बनाया

है।" और उत्तरपुराणकी प्रशस्तिमें लोकसेनमुनिको विदितसकलशास्त्र, मुनीश, कवि, अविकलवृत्त आदि विशेषण दिये गये हैं। इससे यह कल्पना हो सकती है कि, उत्तरपुराण बननेके समय यदि लोकसेन 'विदितसकलशास्त्र' थे, तो फिर उसके पश्चात् उन्हें संबोधनकी उतनी आवश्यकता नहीं थी, जितनी कि इस विशेषणके योग्य होनेके पहिले थी। अतएव जबतक और कोई बाधक प्रमाण न मिले तबतक यह मान लेना कुछ अनुचित नहीं दिखता है कि, आत्मानुशासन उत्तरपुराणके पहिले बना है।

आत्मानुशान आत्माका शासन करनेके लिये—उसको वशीभूत करनेके लिये न्यायी शासकके समान है। अध्यात्मके प्रेमी इसके अध्ययनसे अभूतपूर्व शान्ति लाभ करते हैं। इसकी रचनाशैली भर्तृहरिके वैराग्यशतकके ढंगकी है और उसीके समान प्रभावशालिनी भी है। थोड़ेसे पद्य यहां उद्धृत कर दिये जाते हैं—

हे चन्द्रमः किमिति लाञ्छनवानभूस्त्वं
तद्वान् भवेः किमिति तन्मय एव नाभूः।
किं ज्योत्स्नयामलमलं तव घोषयन्त्या
स्वर्भानुवन्ननु तथा सति नाऽसि लक्ष्यः॥ २४१॥

अर्थात्—हे चन्द्रमा! तू कालिमारूप थोड़ेसे कलंकसे युक्त क्यों हुआ? यदि कलंकवान् ही होना था, तो सर्वथा कलंकमय ही क्यों न हुआ? तेरी इस चांदनीसे जो कि तेरे कलंकको और भी

---

१. यह ग्रन्थ भाषाटीका सहित छप चुका है। सनातनजैनग्रन्थमालाके प्रथम गुच्छकमें मूलमात्र भी छपा है।

अधिक साफ २ बतला रही है, क्या लाभ है? यदि तू राहुके समान सबका सब काला होता, तो तेरा दोष किसीकी दृष्टिमें तो नहीं आता—तुझे कोई टोकता तो नहीं? ऊंचा पद प्राप्त करके जो नीचताका कार्य करता है, उसको लक्ष्य करके यह अन्योक्ति कही गई है।

लोकाधिपाः क्षितिभुजो भुवि येन जाता-
स्तस्मिन्विधौ सति हि सर्वजनप्रसिद्धे।
शोच्यं तदेव यदमी स्पृहणीयवीर्या—
स्तेषां बुधाश्च बत किंकरतां प्रयान्ति॥ ९५॥

जिस लोकप्रसिद्ध धर्मके सेवनसे राजादि पुरुष लोकके स्वामी होते हैं उसके होते हुए जो बड़े २ पराक्रमी पंडित उन राजाओंके दास बनते हैं, उनकी दशा बड़ी शोचनीय है— उनपर बड़ा तरस आता है। अभिप्राय यह है कि, ये लोग धर्महीका सेवन क्यों नहीं करते हैं? जिसके कि कारण राजादिकोंके सुख प्राप्त होते हैं।

सत्यं वदात्र यदि जन्मनि बन्धुकृत्य-
माप्तं त्वया किमपि बन्धुजनाद्धितार्थम्।
एतावदेव परमस्ति मृतस्य पश्चात्—
संभूय कायमहितं तव भस्मयन्ति॥ ८३॥

हे भाई! यदि तूने अपने बन्धुजनोंसे इस जन्ममें कुछ बन्धुतारूप लाभ उठाया हो तो, सच सच बता दे। हमको तो इनका इतना ही उपकार भासता है कि मरनेके पीछे ये सब इकट्ठे होकर तेरे अपकार करनेवाले शरीरको जला देते हैं।

प्रियामनुभवंत्स्वयं भवति कातरं केवलं
परेष्वनुभवत्सु तां विषयिषु स्फुटं ल्हादते ।
मनो ननु नपुंसकं त्विति न शब्दतश्चार्थतः
सुधीः कथमनेन सन्नुभयथा पुमान् जीयते ॥ १३७ ॥

मन केवल शब्दसे ही नपुंसक नहीं है,किन्तु अर्थसे भी है। क्योंकि यह स्वयं तो स्त्रीको भोग नहीं सकता है, केवल कायर होता है और दूसरोंको अर्थात् स्पर्शादि इन्द्रियोंको भोगते देखकर प्रसन्न होता है। तब ऐसा नपुंसक मन सुधी (बुद्धिमान्) पुरुषको जो कि शब्दसे और अर्थसे सर्वथा पुल्लिंग है, कैसे जीत सकता है ? अभिप्राय यह कि मनको बलवान् समझकर उसके जीतनेका उपाय करनेमें त्रुटि नहीं करनी चाहिये ।

ज्ञानमेव फलं ज्ञाने ननु श्लाघ्यमनश्वरम् ।
अहो मोहस्य माहात्म्यमन्यदप्यत्र मृग्यते ॥ १७५ ॥

ज्ञानका फल ज्ञान ही है, जो कि सर्वथा प्रशंसा योग्य और अविनाशी है। इसको छोड़ जो उससे दूसरे सांसारिक फलोंकी इच्छा की जाती है, सो अवश्य ही मोहका वा मूर्खताका माहात्म्य है। अभिप्राय यह कि ज्ञान होनेसे निराकुलतारूप जो सुख होता है, उसे छोड़कर लोग विषयसुखोंको टटोलते हैं, सो मूर्खता है ।

जिनदत्तचरित—बड़नगरमें मलूकचन्द्रजी हीराचन्द्रके मन्दिरमें है। उसकी संस्कृत शैली बड़ी अच्छी और प्रौढ़ है। इस छोटेसे नव सर्गात्मक काव्यसे गुणभद्राचार्यके पाण्डित्यका पूर्ण परिचय

मिलता है। यह सारा काव्य अनुष्टुप श्लोकोंमें लिखा गया है। अनुष्टुप होकर भी यह गंभीर है। इसकी भाषा पंडित बख्तावरमल रतनलालने बनाई है। यह भाषा मुंशी अमनसिंहजीने छपवाई थी। अनुवादक महाशय संस्कृतके विद्वान नहीं थे, इसलिये अनुवाद जैसा होना चाहिये वैसा नहीं हुआ है और बहुतसी जगह भाव भी लिखनेसे रह गया हैं।

एक भावसंग्रह नामका ग्रन्थ भी गुणभद्राचार्यका बनाया हुआ कहा जाता है, परन्तु अभीतक हमें उसके दर्शन नहीं हुए हैं।

श्रीयुक्त तात्या नेमिनाथ पांगलने मराठीके 'विविधज्ञानविस्तार' नामक मासिकपत्रमें गुणभद्रस्वामीके विषयमें एक दन्तकथाका उल्लेख किया है। यद्यपि ठीक ऐसी ही कथा सुप्रसिद्ध कवि बाणभट्टके[1] विषयमें भी सुनी जाती है और विद्वानोंमें उसका प्रचार भी विशेषतासे है, इससे उसके सत्य होनेमें भी सन्देह है; तो भी हम पाठकोंके जाननेके लिये यहां उसे उद्धृत कर देते हैं:—

"जिस समय जिनसेनस्वामीको ज्ञात हुआ कि, अब मेरा अन्तसमय निकट है और महापुराणको मैं पूरा नहीं कर सकूंगा; तब उन्होंने इस बातकी चिन्ता की कि मेरे शिष्योंमें ऐसा कौन है, जो इस ग्रन्थको योग्यताके साथ पूर्ण कर देगा? और अपने दो

---

1. बाणभट्ट जब अपनी अधूरी कादम्बरीको छोड़कर मृत्युशय्यापर पड़े थे, तब उन्होंने भी अपने दो पुत्रोंसे इसी प्रकार पूछा था और ऐसा ही उत्तर पाया था।

शिष्योंको जो कि सबसे अधिक विद्वान् समझे जाते थे, पास बुला-कर कहा कि यह जो साम्हने सूखा वृक्ष खड़ा है, इसका काव्य-वाणीमें वर्णन करो। तब उन दोनोंमेंसे पहिलेने कहा—

" शुष्कं काष्ठं तिष्ठत्यग्रे। "

फिर दूसरेने कहा—

" नीरसतरुरिह विलसति पुरतः। "

यह दूसरा और कोई नहीं था, गुणभद्रस्वामी थे। इनके सरस उत्तरको सुनकर जिनसेनस्वामीने इन्हींको योग्य समझा और इन्हें ही आज्ञा दी कि तुम शेष ग्रन्थको पूर्ण करना।"

* * * * *

समकालीन राजाओंका परिचय।

अमोघवर्ष।

जिनसेन और गुणभद्रस्वामीके समयमें जितने राजा हो गये हैं, उन सबमें महाराजा अमोघवर्ष जैनधर्मके परम श्रद्धालु सहायक और उन्नायक समझे जाते हैं। जिनसेनस्वामीके ये परम भक्त थे, जैसा कि गुणभद्रस्वामीने लिखा है:—

यस्य प्रांशुनखांशुजालविसरद्धारान्तराविर्भव-
त्पादाम्भोजरजःपिशङ्गमुकुटप्रत्यग्ररत्नद्युतिः।
संस्मर्ता स्वममोघवर्षनृपतिः पूतोऽहमद्येत्यलं
स श्रीमान् जिनसेनपूज्यभगवत्पादो जगन्मङ्गलम् ॥ ८ ॥

इसका अभिप्राय यह है कि महाराजा अमोघवर्ष जिनसेनस्वामीके चरणकमलोंमें मस्तकको रखकर आपको पवित्र मानते थे और उनका सदा स्मरण किया करते थे। अमोघवर्षकी बनाई हुई

प्रश्नोत्तररत्नमाला नामकी एक छोटीसी पुस्तक है। उसके अन्तमें जो निम्नलिखित श्लोक है, उससे मालूम होता है कि उन्होंने–विवेकपूर्वक यह समझकर कि संसार सारहीन है, राज्यका त्याग कर दिया था।

विवेकात्त्यक्तराज्येन राज्ञेयं रत्नमालिका।
रचितामोघवर्षेण सुधियां सदलंकृतिः॥

इस पुस्तकके प्रारंभमें जो निम्न लिखित श्लोक हैः—

प्रणिपत्य वर्धमानं प्रश्नोत्तरत्नमालिकां वक्ष्ये।
नागनरामरवन्द्यं देवं देवाधिपं वीरम्॥

इससे यह भी शंका नहीं रहती कि उन्होंने किस धर्मके विवेकसे राज्यका त्याग किया था? इससे स्पष्टतः मालूम होता है कि वे महावीर भगवानके अनुयायी थे और उनके सच्चे उपदेशने उनके चित्तपर इतना प्रभाव डाला था कि वे संसारके झगड़ोंसे मुक्त हो कर धर्मका सेवन करने लगे थे।

प्राचीन लेखों और पुस्तकोंमें अमोघवर्षका उल्लेख तीन नामोंसे मिलता है—अमोघवर्ष, नृपतुंगदेव और शर्वदेव। अपनी उदारता

---

१. प्रश्नोत्तररत्नमालाको अभी तक श्वेताम्बरी भाई विमलदास कविकी बनाई हुई और वैष्णव शंकराचार्यकी बनाई हुई कहते थे, परन्तु ईसाकी ग्यारहवीं सदीमें इसका जो तिब्बती भाषामें अनुवाद हुआ था, उसके प्राप्त होनेसे अब यह बात निश्चित हो गई है कि, यह राष्ट्रकूटवंशी अमोघवर्षकी ही बनाई हुई है। उक्त तिब्बती अनुवादमें स्पष्ट शब्दोंमें लिखा है कि इसे अमोघवर्ष प्रथमने संस्कृतमें बनाई थी।

दानशीलता और न्यायपरायणतासे अमोघवर्षने अपने अमोघवर्ष नामको इतना प्रसिद्ध किया कि, पीछेसे यह एक प्रकारकी पदवी समझी जाने लगी और उसे राठौरवंशके तीन चार राजाओंने तथा परमारवंशीय महाराज मुंजने भी अपनी प्रतिष्ठाका कारण समझकर धारण की। इन पिछले तीन चार अमोघवर्षोंके कारण इतिहासमें ये अमोघवर्ष प्रथमअमोघवर्षके नामसे उल्लिखित होते हैं।

अमोघवर्ष राष्ट्रकूट वा राठौरवंशके राजा थे। राष्ट्रकूटवंशीय राजा तृतीय कृष्ण, ध्रुवराज, कर्कराज, द्वितीय कर्कराज, और द्वितीय प्रभूतवर्ष आदिके दानपत्रों तथा शिलालेखोंसे इनके पूर्व राजाओंकी परम्पराका पता इस प्रकार लगता है—१ गोविन्दराज, २ कक्क-राज (पहिलेका पुत्र), ३ इन्द्रराज (पुत्र), ४ दन्तिदुर्ग अपर नाम वल्लभराज (पुत्र), ५ कृष्णराज अपर नाम शुभतुंग (चाचा, कक्क-राजका द्वितीय पुत्र), ६ गोविन्दराज द्वितीय, अपर नाम वल्लभराज (पुत्र), ७ ध्रुवराज अपर नाम निरुपम (छोटा भाई) ८ जगत्तुङ्ग अपर नाम गोविन्दराज तृतीय वा प्रभूतवर्ष और इनके पुत्र ९ अमोघ-वर्ष प्रथम। अमोघवर्षने शक संवत् ७३७ से ८०० तक राज्य किया है। उस समय राष्ट्रकूटोंका राज्य सारे महाराष्ट्र और कर्नाटक प्रान्तमें फैला हुआ था। सिवा इसके राठौर राजा दन्तिदुर्गने सोलंकी राजा कीर्तिवर्मा (द्वितीय) का महाराज्य छीन लिया था, वह तथा

---

१. अर्थिषु यथार्थतां यः समभीष्टफलाप्तिलब्धतोषेषु।
वृद्धिं निनाय 'परमाममोघवर्षाभिधानस्य ॥
(ध्रुवराजका दानपत्र इंडियन एंटिक्वेरी १२-१८१)

गुजरातमें जो सोलंकी (चालुक्य) राज्यका शाखाराज्य स्थापित हुआ था, वह भी राठौरोंके हाथमें आ गया था। इस तरह ये दोनों राज्य भी राठौर राज्यके अन्तर्गत हो गये थे और दन्तिदुर्गसे लेकर खोट्टिगदेवके राज्यकाल तक (शक संवत् ८९४ तक) राठौर वंशके ही अधिकारमें रहे थे। शक संवत् ८९४ में मालवाके परमार राजा श्रीहर्षने राठौरोंपर विजय प्राप्त की थी और मान्यखेटनगरीको लूटी थी और उसी समय खोट्टिगदेवका देहान्त हुआ था। खोट्टिगदेव अमोघवर्ष प्रथमके प्रपौत्रका पुत्र था। इसीके समय राठौरोंकी राज्यलक्ष्मी प्रभाहीन हुई।

अमोघवर्ष प्रथमके समय राष्ट्रकूटवंशकी स्वतंत्र राज्यलक्ष्मी उन्नतिके शिखरपर विराजमान थी, और अन्य राजाओंकी लक्ष्मीका परिहास करती थी। निम्नलिखित श्लोकोंसे मालूम होता है कि अमोघवर्ष बड़े भारी प्रतापी वीर थे, बली थे, सोलंकी राजाओंके लिये वे प्रलयकालकी अग्निके समान थे, अन्य शत्रुओंकी स्त्रियोंको वैधव्यकी दीक्षा देनेवाले थे, उनकी सेना इतनी अधिक थी कि उसके भारसे शेषनाग दबा जाता था। उन्होंने वेंगीमें किसी चालुक्यराजाको मार करके उसके अपूर्व सुस्वादु खाद्यसे यमराजको सन्तुष्ट किया था। शत्रुओंको उनके मारे कहीं भी ठहरनेका अवकाश नहीं मिलता था, उनका निर्मल यश सब ओर फैल रहा था, और उनकी राजधानीका

---

१. अमोघवर्षका पुत्र अकालवर्ष उसका जगत्तुंग (दूसरा) और उसका अमोघवर्ष द्वितीय। इस अमोघवर्षके तीन पुत्र थे—१ कृष्ण, २ निरुपम और ३ खोट्टिगदेव।

नगर मान्यखेट इतना विशाल और सुन्दर था कि उसके साम्हने इन्द्रपुरीकी हँसी होती थी। मानों उन्होंने उसे देवोंके गर्वको खर्व करनेके लिये अपनी राजधानीका स्थान बनाया था—

तस्य श्रीमदमोघवर्षनृपतेश्चालुक्यकालानलः
सूनुर्भूपतिरूर्जिताहितवधूवैधव्यदीक्षागुरुः ।
आसीदिन्द्रपुराधिकं पुरमिदं श्रीमान्यखेटाभिधं
येनेदं च सरः कृतं गुरुकरुमासादमन्तःपुरम् ॥

(इंडियन् एण्टिक्वेरी १२। २६४–६७)

तत्सूनुरानतनृपो नृपतुंगदेवः
सोऽभूत् स्वसैन्यभरभंगरिताहिराजः ।
यो मान्यखेटममरेन्द्रपुरोपहासि
गीर्वाणगर्वमिव खर्वयितुं व्यधत्त ॥

(एपिग्राफिआ इण्डिका ५ । १९२–९६)

तस्माच्चामोघवर्षोऽभवदतुलवलो येन कोपादपूर्वं-
श्चालुक्याभ्यूपखाद्यैर्जनितरतियमः प्रीणितोविंगवल्ल्याम् ।
वैरिश्चाण्डोदरान्तर्वहिरुपरितले यन्न लब्धावकाशं
तोयव्याजाद्विशुद्धं यश इव निहितं तज्जगत्तुंगसिन्धोः ॥

चतुर्थ गोविन्दराजका दानपत्र ।

(इंडियन् एण्टिक्वेरी १२।२४९–५२)

अमोघवर्षके एक शिलालेखमें लिखा है—"वङ्गाङ्गमगधमालववें-गीशैरर्चितो" (इंडियन एण्टिक्वेरी जि० १२पृष्ठ २१८) जिससे मालूम होता है कि वंग अंग मगध मालव और वेंगीके राजा उनकी सेवा करते थे। अर्थात् अपने समयके वे एक महान् सम्राट् थे।

अमोघवर्ष जैसे वीर तथा उदार थे, उसी प्रकारसे विद्वान् भी थे। उन्होंने संस्कृत और कानड़ी भाषामें अनेक ग्रन्थोंकी रचना की है, जिसमेंसे एक प्रश्नोत्तररत्नमालाका उल्लेख तो ऊपर हो चुका है—जो छप चुकी है, दूसरा प्राप्य ग्रन्थ कवि–राजमार्ग है। यह अलंकारका ग्रन्थ है, और कानड़ी भाषाके उत्कृष्ट ग्रन्थोंमें गिना जाता है। इनके सिवाय और भी कई ग्रन्थ अमोघवर्षके सुने जाते हैं, परन्तु वे अप्राप्य हैं।

इतिहासज्ञोंने अमोघवर्षका राज्यकाल शक संवत् ७३६ से ७९९ तक निश्चय किया है। जिनसेनस्वामीका स्वर्गवास शक संवत् ७६५ के लगभग निश्चित किया जा चुका है। इससे समझना चाहिये कि जिनसेनके शरीरत्यागके समय अमोघवर्ष महाराज राज्य ही करते थे। राज्यका त्याग उन्होंने शक संवत् ८०० में किया है जब कि आचार्यपदपर गुणभद्रस्वामी विराजमान थे। यह बात अभी विवादापन्न ही है कि अमोघवर्षने राज्यको छोड़कर मुनिदीक्षा ले ली थी या केवल उदासीनता धारण करके श्रावककी कोई उत्कृष्ट प्रतिमाका चरित्र ग्रहण कर लिया था। हमारी समझमें यदि उन्होंने मुनिदीक्षा ली होती; तो प्रश्नोत्तररत्नमालामें वे अपना नाम 'अमोघवर्ष' न लिखकर मुनि अवस्थामें धारण किया हुआ नाम लिखते। इसके सिवाय राज्यका त्याग करनेके समय उनकी अवस्था लगभग ८० वर्षकी थी, इसलिये भी उनका कठिन मुनिलिंग धारण करना संभव प्रतीत नहीं होता है।

अकालवर्ष—अमोघवर्षके पश्चात् उनका पुत्र अकालवर्ष जिसको कि 'द्वितीयकृष्ण' भी कहते हैं, सार्वभौम सम्राट् हुआ था, जैसा कि द्वितीय कर्कराजके दानपत्रमें अमोघवर्षका वर्णन करनेके पश्चात् लिखा है:—

तस्मादकालवर्षोऽभूत्सार्वभौमक्षितीश्वरः ।
यत्प्रतापपरित्रस्तो व्योम्नि चन्द्रायते रविः ॥

परन्तु अकालवर्षका राज्यकाल शक ८११–८३३ तक निश्चित् किया गया है। इससे मालूम होता है कि अमोघवर्ष और अकालवर्षके बीचमें १०–११ वर्ष तक किसी दूसरे राजाने राज्य किया है और वह बहुत करके अमोघवर्षका पितृव्य (काका) ईन्द्रराज था, जैसा कि ध्रुवराजके दानपत्रके निम्नलिखित श्लोकसे विदित होता है—

राजाभूत्तात्पितृव्यो रिपुभवविभवोद्भूत्यभावैकहेतु-
र्लक्ष्मीवानिन्द्रराजो गुणिनृपनिकरान्तश्चमत्कारकारी ।
रागादन्यान्व्युदस्य प्रगटितविषया यं नृपान्सेवमाना
राज्यश्रीरेव चक्रे सकलकविजनोद्गीततथ्यस्वभावम् ॥

शायद अमोघवर्षके राज्य त्याग करनेके समय अकालवर्ष बालक था, इस कारण राज्यका कार्य इन्द्रराज देखता होगा और इसीलिये अमोघवर्षके पश्चात् कहीं इन्द्रराजको और कहीं अकालवर्षको राजा माना है।

अकालवर्ष भी अपने पिताके समान बड़ा भारी वीर और पराक्रमी

---

१. इन्द्रराजकी सन्तानने गुजरात देशमें राष्ट्रकूटवंशका एक शाखाराज्य स्थापित किया था।

राजा था। तृतीय कृष्णराजके दानपत्रमें जो कि वर्धा नगरके समीप-एक कुएमें प्राप्त हुआ है—इसकी इस प्रकार प्रशंसा लिखी है—

तस्योत्तर्जितगूर्जरो हृतहटल्लासोद्भटश्रीमदो
गौडानां विनयव्रतार्पणगुरुः सामुद्रनिद्राहरः।
द्वारस्थाङ्गकलिङ्गगाङ्गमगधैरभ्यर्चिताज्ञश्चिरं
सूनुः सूनृतवाग्भुवः परिदृढः श्रीकृष्णराजोऽभवत्॥

इसका अभिप्राय यह है कि उस अमोघवर्षका पुत्र श्रीकृष्ण-राज हुआ जिसने गुर्जर, गौड, द्वारसमुद्र, अंग, कलिंग, गंग, मगध आदि देशोंके राजाओंको अपने वशवर्ती वा आज्ञानुवर्ती किये थे। गुणभद्रस्वामीने भी उत्तरपुराणके अन्तमें इस राजाकी बहुत प्रशंसा की है। दो श्लोक यहां उद्धृत किये जाते हैं—

यस्योत्तुंगमतंगजा निजमदस्रोतस्विनीसंगमा-
द्गाङ्गं वारि कलङ्कितं कटु मुहुः पीत्वाप्यगच्छत्तृपः।
कौमारं घनचन्दनं वनमपां पत्युस्तरंगानिलै-
र्मन्दान्दोलित (?) भास्करकरच्छायं समाशिश्रियन्॥ २६॥
दुग्धाब्धौ गिरिणा हरौ हतसुखागोपीकुचोद्घट्टनैः
पद्मे भानुकरैर्भिदेलिमदले वासायसंकोचने।
यस्योरः शरणे प्रथीयसि भुजस्तम्भान्तरोत्तम्भित-
स्थेये हारकलापतोरणगुणे श्रीः सौख्यमागाच्चिरम्॥ २७॥

यह नहीं कहा जा सकता है कि अमोघवर्षके समान अकाल-वर्ष भी जैनधर्मका श्रद्धालु था या नहीं। क्योंकि इस विषयका हमें अभी तक कोई उल्लेख नहीं मिला है। पर उसका सामन्त

लोकादित्य जो कि वनवासदेशका राजा था और बंकापुरमें¹ जिसकी राजधानी थी, जैनधर्मका भक्त रहा है, ऐसा जान पड़ता है। क्योंकि—

पद्मालयमुकुलकुलप्रविकासकसत्प्रतापततमहसि ।
श्रीमति लोकादित्ये प्रध्वस्तप्रथितशत्रुसंतमसे ॥ २९ ॥
चेल्लपताके चेल्लध्वजानुजे चेल्लकेतनतनूजे ।
जैनेन्द्रधर्मवृद्धिविधायिनि स्वविधुवीध्रपृथुयशसि ॥ ३० ॥

इत्यादि श्लोकोंमें गुणभद्रस्वामीने लोकादित्यको "जैनेद्र धर्म-वृद्धिविधायिनि" विशेषण देकर कमसे कम इतना तो भी स्पष्ट कर दिया है कि वह जैनधर्मका शुभचिन्तक तथा उसकी वृद्धि करनेवाला था।

जिनसेनस्वामीका जन्म समय शक संवत् ६७५ और मृत्युसमय शक सं० ७७० निश्चित किया जा चुका है और उनके पश्चात् गुणभद्रस्वामी निदान शक संवत् ८२० तक जीते रहे हैं। इस वीचमें अर्थात् शक संवत् ६७५ से ८२० तकके समयमें राष्ट्रकूटवंशके चार पांच राजा राज्य कर चुके हैं। जिनमेंसे तीनका समय तो निश्चित है—श्रीवल्लभ शक संवत् ७०५ से ७३६ तक, अमोघवर्ष ७३६ से ७९९ तक और अकालवर्ष ८०० से ८३३ तक। श्रीवल्लभसे पहिले शुभतुंग, दन्तिदुर्ग आदि राजा हुए हैं, परन्तु उनका निश्चित समय विदित नहीं है।

---

१. इस राजाके समयमें हरिवंशपुराणकी रचना हुई थी।

पूर्वके कवि वा आचार्य।

जिनसेनस्वामीने आदिपुराण व महापुराणकी भूमिकामें जिन वहुतसे कवियों तथा आचार्योंका स्मरण किया है, यहां हम उनका उल्लेख कर देना भी ऐतिहासिक दृष्टिसे उपयोगी समझते हैं:—

१. सिद्धसेनकवि—इन्हें 'प्रवादिकरिकेसरी' विशेषण दिया है, जिससे मालूम होता है कि ये बड़े भारी नैयायिक व तार्किक विद्वान् होंगे। कई लोगोंका अनुमान है कि, ये प्रसिद्ध श्वेताम्बर तार्किक 'सिद्धसेनदिवाकर' ही होंगे, जिन्होंने अनेक न्यायग्रन्थोंकी रचना की है।

२. समन्तभद्र—इनकी कवियोंके, वादियोंके, गमकोंके और वाग्मीजनोंके शिरोमणि कहकर स्तुति की है। गन्धहस्तिमहाभाष्य, रत्नकरंड-श्रावकाचार और देवागम आदि ग्रन्थोंके कर्त्ता यही गिने जाते हैं। न्यायशास्त्रके ये अद्वितीय विद्वान् हुए हैं।

३. श्रीदत्त—इन्हें बड़े भारी तपस्वी और वादिरूपीसिंहोंके भेदन करनेवाले बतलाये हैं।

४. यशोभद्र—इनके विषयमें कहा है कि, विद्वानोंकी सभामें इनका नाम सुनते ही वादियोंका गर्व गलित हो जाता था।

५. प्रभाचन्द्रकवि—जिन्होंने चन्द्रोदय (न्यायकुमुदचन्द्रोदय) करके जगतको आल्हादित किया। प्रमेयकमलमार्तंडके कर्त्ता भी ये ही समझे जाते हैं।

६. शिवकोटिमुनीश्वर—जिसके आराधनाचतुष्टय (भगवती आराधना) का आराधन करके यह संसार शीतीभूत वा शान्त हो गया।

७. जटाचार्य—काव्यका अनुचिन्तन करते समय जिनकी जटाएं चंचल होकर ऐसी मालूम होती थीं, मानों अर्थका व्याख्यान कर रही हैं। जटाचार्यका दूसरा नाम सिंहनन्दि भी है। ऐसा आदिपुराणकी टिप्पणीमें लिखा है।

८. काणभिक्षु—कथालंकारके बनानेवाले।

९. देव—कवियोंके तीर्थंकर। बहुत करके यह आचार्य देवनन्दिका सांक्षिप्त नाम होगा।

१०. भट्टाकलंक—११ श्रीपाद,—१२ पात्रकेसरी—इनके अतिशय निर्मलगुण विद्वानोंके हृदयमें हारके भावको प्राप्त होते हैं।

१३. वादिसिंह—कवित्व, वाग्मित्व, और गमकत्वकी सीमापर पहुंचे हुए। आश्चर्य नहीं कि, 'वादिसिंह यह' 'वादीभसिंहका ही नामान्तर हो। जिस तरह वादीभसिंहके कवित्वको प्रगट करनेवाले गद्यचिन्तामणि और क्षत्रचूड़ामणि दो ग्रन्थ प्रगट हो चुके हैं, उसी प्रकारसे अपने नामानुसार तार्किकत्वको प्रगट करनेवाली उन्होंने आप्तमीमांसाकी भी कोई टीका लिखी है जिसका उल्लेख अष्टसहस्रीकी उत्थानिकामें (श्रीमता वादीभसिंहनोपलालितामाप्तमीमांसां) मिलता है।

१४. वीरसेन—जिनसेनस्वामीके गुरु प्रसिद्धकवि और सिद्धान्तग्रन्थोंके टीकाकार।

१५. जयसेन—तपस्वी, शान्तमूर्ति, शास्त्रज्ञ, पंडिताग्रणी।

१६. कविपरमेश्वर—कवियोंद्वारा पूज्य और वागर्थसंग्रह पुराणका रचनेवाले।

पण्डितप्रवर आशाधर।

" आशाधरो विजयतां कलिकालिदासः "

इस ऋषितुल्य विद्वान्‌का नाम आशाधर था। आशाधरके पिताका नाम सल्लक्षण [सलखण] और माताका नाम श्रीरत्नी था। जैनियोंकी ८४ जातियोंमें बघेरवाल नामकी एक जाति है। हमारे चरित्रनायकने इसी बघेरवाल जातिका मुख उज्ज्वल किया था। सपादलक्ष देशमें मंडलकर नामका एक नगर है। पंडित आशाधरका जन्म उसी मंडलकर नगरमें हुआ था।

सपादलक्ष देशको भाषामें सवालख कहते हैं। नागौरके निकटका प्रदेश सॅवालखके नामसे प्रसिद्ध है। इस देशमें पहले चाहमान (चौहान) राजाओंका राज्य था। फिर सांभर और अजमेरके चौ-हान राजाओंका सारा देश सपादलक्ष कहलाने लगा था और उसके सम्बन्धसे चौहान राजाओंके लिये " सपादलक्षीय नृपति-भूपति" आदि शब्द लिखे जाने लगे थे।

आशाधरके समयमें सपादलक्ष देशमें सांभरका राज्य भी शामिल था, यह उनके दिये हुए " शाकंभरीभूषण " विशेषणसे स्पष्ट होता है। शाकंभरी झील जिसमें कि नमक पैदा होता है और जिसे

१—श्रीमानास्ति सपादलक्षविषयः शाकंभरीभूषण—
स्तत्र श्रीरतिधाममण्डलकरं नामास्ति दुर्गं महत्।
श्रीरत्न्यामुदपादि तत्र विमलव्याघ्रेरवालान्वयात्
श्रीसल्लक्षणतो जिनेन्द्रसमयश्रद्धालुराशाधारः ॥ १

२—प्राचीन कालमें "कमाऊंके" आसपासके देशको भी सपादलक्ष कहते थे।

आजकल सांभर कहते हैं, सवालख देशकी शृंगाररूप थी। मंडल-करदुर्गको आजकल 'मांडलगढ़का किला' कहते हैं। यह इस समय मेवाड़ राज्यमें है। उस समय मेवाड़का सारा पूर्वीय भाग चौहानोंके आधीन था। चौहान राजाओंके वहुतसे शिलालेख वहां अव तक मिलते हैं। महाराजाधिराज पृथ्वीराजके समय तक मांडलगढ़ सपादलक्ष देशके अन्तर्गत था और वहांके अधिकारी चौहान राजा थे। पीछे अजमेरपर मुसलमानोंका अधिकार होनेपर वह किला भी उनके हस्तगत होगया था।

आशाधरकी स्त्री सरस्वतीसे एक छाहड़ नामका पुत्र था, जिसने धाराके तत्कालीन महाराजाधिराज अर्जुनदेवको अपने गुणोंसे मोहित कर रक्खा था। वह अपने पिताका सुपूत पुत्र था। यद्यपि उसके कीर्तिशाली कार्योंके जाननेका कोई साधन नहीं है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं है कि, वह होगा अपने पिता ही जैसा विद्वान्। इसीलिये पंडितराजने एक श्लोकमें अपने साथ उसकी तुलना की है कि "जिस तरह सरस्वतीके (शारदाके) विषयमें मैंने अपने आपको उत्पन्न किया, उसी तरहसे अपनी सरस्वती नामकी भार्याके गर्भसे अपने अतिशय गुणवान् पुत्र छाहड़को उत्पन्न किया!" छाहड़ सरीखे गुणवान् पुत्रको पानेका एक प्रकारसे उन्हें अभिमान था। जान पड़ता है, उनके छाहड़के अतिरिक्त और कोई पुत्र नहीं था। यदि होता, तो वे अपने ग्रन्थोंकी प्रशस्तिमें छाहड़के समान

१—सरस्वत्यामिवात्मानं सरस्वत्यामजीजनत।
यः पुत्रं छाहडं गुण्यं रंजितार्जुनभूपतिम्॥ २॥

उसका भी उल्लेख करते। अनगारधर्मामृतकी भव्यकुमुदचन्द्रिका टीका वि० सं० १३०० की बनी हुई है, जब कि उनकी आयु कमसे कम ६५ वर्षकी होगी, जैसा कि हम आगे सिद्ध करेंगे। इस अवस्थाके पश्चात् पुत्र उत्पन्न होनेकी संभावना बहुत कम होती है।

आशाधरने अपने ग्रन्थोंकी प्रशस्तियोंमें अपना बहुत कुछ परिचय दिया है। परन्तु किसीमें अपने जन्मका समय नहीं बतलाया है। तो भी उन्होंने अपने विषयमें जो बातें कहीं हैं, उनसे अनुमान होता है कि विक्रम संवत् १२३५ के लगभग उनका जन्म हुआ होगा।

जिस समय गजनीके बादशाह शहाबुद्दीनगोरीने सारे सपादलक्ष देशको व्याप्त कर लिया था, उस समय सदाचार भंग होनेके भयसे मुसल्मानोंके अत्याचारके डरसे आशाधर अपने परिवारके साथ देश छोड़कर निकले थे, और मालवाकी धारा नगरीमें आ बसे थे। उस समय मालवाके परमारवंशके प्रतापी राजा विन्ध्यवर्माका राज्य था। वहां उनकी भुजाओंके प्रचंड बलसे तीनों पुरुषार्थोंका साधन अच्छी तरहसे होता था। शहाबुद्दीन गोरीने ईस्वी सन् ११९२ में अर्थात् विक्रम संवत् १२४९ में पृथ्वीराजको कैद करके दिल्लीको

१—म्लेच्छेशेन सपादलक्षविषये व्याप्ते सुवृत्तक्षति-
त्रासाद्विन्ध्यनरेन्द्रदोःपरिमलस्फूर्जत्त्रिवर्गौजसि।
प्राप्तो मालवमंडले बहुपरीवारः पुरीमावसन्
यो धारामपठज्जिनप्रमितिवाक्शास्त्रे महावीरतः ॥५॥

प्रशस्तिकी टीकामें 'म्लेच्छेशेन' का अर्थ "साहबदीनतुरुष्केण" लिखा है।

अपनी राजधानी वनाई थी । उसी समय अर्थात् संवत् १२४९ (ई० सन् ११९३) में उसने अजमेरको अपने आधीन करके वहांके लोगोंकी कतल कराई थी और इसी साल वह अपने एक सरदारको हिन्दुस्थानका सारा कारभार सोंप करके गजनीको लौट गया था। इसके पश्चात् सन् ११९४ और ९५ में हिन्दुस्थानपर उसकी छठी और सातवीं चढ़ाई और भी हुई थी । छठी चढ़ाईमें उसने **कन्नोज** फ़तह की थी। और सातवींमें **दिल्ली, गवालियर, बुन्देलखंड, विहार, बंगाल,** और **गुजरात** प्रदेश उसने अपने राज्यमें मिला लिये थे। फिर सन् १२०२ में वह **ग्यासुद्दीनगोरीके** मरनेपर गजनीके तख्तपर वैठा था, और सन् १२०६ में सिंध नदीके किनारे उसे गक्कर जातिके जंगली लोगोंने मार डाला था। इससे मालूम पड़ता है: कि, शहाबुद्दीन गोरीने पृथ्वीराज चौहानसे दिल्लीका सिंहासन छीनते ही अजमेरपर धावा किया होगा। क्योंकि अजमेर पृथ्वीराजके ही अधिकारमें था और उसी समय अर्थात् सन् ११९३ ईस्वीमें सपादलक्षदेश शहावुद्दीनके अत्याचारोंसे व्याप्त हो गया होगा। यही समय पंडितप्रवर आशाधरके मांडलगढ़ छोडकर धारा नगरीमें आनेका निश्चित होता है।

मांडलगढ़से धारानगरीमें आ वसनेके पश्चात् पंडित आशाधरने एक **महावीर** नामके प्रसिद्ध पंडितसे **जैनेन्द्रप्रमाण** और **जैनेन्द्रव्याकरण** इन दो ग्रन्थोंका अध्ययन किया। आशाधरके गुरु पं० महावीर, वादिराज पंडित **धरसेनके** शिष्य थे। प्रसिद्ध विद्या-

भिलापी महाराजा भोजको मरे हुए यद्यपि उन दिनों १५० वर्ष बीत चुके थे, तो भी धारानगरीमें संस्कृत विद्याका अच्छा प्रचार था। उन दिनों संस्कृतके कई नामी नामी विद्वान् हो गये हैं जिनमें वादीन्द्र विशालकीर्ति, देवचन्द्र, महाकवि मदनोपाध्याय, कविराज बिल्हण (मंत्री), अर्जुनदेव, केल्हण, आशाधर आदि मुख्य गिने जाते हैं।

वि० संवत् १२४९ में जब कि पंडित आशाधर धारामें आये होंगे, उनकी अवस्था अधिक नहीं होगी। क्योंकि धारामें आनेके पश्चात् उन्होंने न्याय और व्याकरण शास्त्र पढ़े थे। हमारी समझमें उस समय उनकी अवस्था २० वर्षके भीतर भीतर होगी। और इस हिसाबसे उनका जन्म वि० सं० १२३०-२५ के लगभग हुआ होगा, जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं।

जिस समय आशाधर धारामें आये थे, उस समय मालवाके राजा विन्ध्यनरेन्द्र, विन्ध्यवर्मा, अथवा विजयवर्मा थे। प्रशस्तिकी टीकामें 'विन्ध्यभूपतिका' अर्थ 'विजयवर्मा नाम मालवाधिपति' किया है। जिससे मालूम होता है कि विन्ध्यवर्माहीका दूसरा नाम विजयवर्मा है। विन्ध्यवर्माका यह नामान्तर अभीतक किसी शिलालेख या दानपत्रमें नहीं पाया गया है। विजयवर्मा परमार महाराज भोजकी पांचवीं पीढ़ीमें थे। पिप्पलियाके अर्जुनदेवके दानपत्रमें उनकी कुलपरम्परा इस प्रकार लिखी है:- 'भोज-उदयादित्य-नरवर्मा, यशोवर्मा, अजयवर्मा, विन्ध्यवर्मा (विजयवर्मा), सुभटवर्मा,

१-बंगाल एशियाटिक सुसाइटीका जनरल जिल्द ५ पृष्ठ ३७८।

अर्जुनवर्मा । ” अर्जुनवर्माके कोई पुत्र नहीं था । इसलिय उसके पीछे अजयवर्माके भाई लक्ष्मीवर्माका पौत्र देवपाल (साहसमल्ल) और देवपालके पीछे उसका पुत्र जैतुगिदेव (जयसिंह) राजा हुआ । आशाधर जिस समय धारामें आये, उस समय विन्ध्यवर्माका राज्य था और वि० सं० १२९६ में जब उन्होंने सागारधर्मामृतकी टीका बनाई, तब जैतुगिदेव राजा थे । अर्थात् वे अपने समयमें धाराके सिंहासनपर पांच राजाओंको देख चुके थे। केवल ९० वर्षके बीचमें पांच राजाओंका होना एक आश्चर्यकी बात है ! आशाधरका विद्याभ्यास समाप्त होते होते उनके पाण्डित्यकी कीर्ति चारों ओर फैलने लगी । उनकी विलक्षण प्रतिभाने विद्वानोंको चकित स्तंभित कर दिया । विन्ध्यवर्माके सान्धिवैग्रहिक मंत्री (फारेन सेक्रेटरी) विल्हण नामके एक महाकवि थे । उन्होंने आशाधरकी विद्वत्तापर मोहित होकर एकवार निम्नलिखित श्लोक कहा था,—

“ आशाधर त्वं मयि विद्धि सिद्धं निसर्गसौन्दर्य्यमजर्यमार्य ।
सरस्वतीपुत्रतया यदेतदर्थे परं वाच्यमयं प्रपञ्चः ॥ ”

जिसका आशय यह है कि “ हे आशाधर ! तथा हे आर्य ! तुम्हारे साथ मेरा स्वाभाविक सहोदरपना (भ्रातृत्व) और श्रेष्ठ मित्रपना है । क्योंकि जिस तरह तुम सरस्वतीके (शारदाके) पुत्र हो उसी तरह मैं भी हूं । एक उदरसे पैदा होनेवालोंमें मित्रता और भाईपना होता ही है । ” इस श्लोकसे इस बातका भी पता लगता है

१—इत्युपश्लोकितो विद्वद्बिल्हणेन कवीशिना ।
श्रीविन्ध्यभूपतिमहासान्धिविग्रहकेण यः ॥ ७ ॥

कि आशाधर कोई सामान्य पुरुष नहीं थे । एक वड़े भारी राज्यके महामंत्रीकी जिनके साथ इतनी गाढ़ मित्रता थी, उनकी प्रतिष्ठा थोड़ी नहीं समझना चाहिये । उक्त विल्हण कविका उल्लेख मांडूके एक खंडित शिलालेखमें है । उसे छोड़कर न तो उनका वनाया हुआ कोई ग्रन्थ मिलता है और न आशाधरको छोड़कर उनका किसीने उल्लेख किया है । ऐसे राजमान्य प्रतिष्ठित कविकी जब यह दशा है तब पाठक सोच सकते हैं कि कालकी कुटिल गतिने हमारे देशके ऐसे कितने विद्वानोंकी कीर्तिका नाम शेष न कर दिया होगा !

आशाधरकी प्रशास्तिमें **विल्हण कवीश**का नाम देखकर पहले हमने समझा था कि काश्मीरके प्रसिद्ध कवि विल्हण ही जिनकी उपाधि **विद्यापति** थी, आशाधरकी प्रशंसा करनेवाले हैं । परन्तु वह केवल एक भ्रम था । विद्यापति विल्हण और मालवा राज्यके मंत्री कवीश विल्हणके समयमें लगभग डेढ़ सौ वर्षका अन्तर है । विद्यापति विल्हण काश्मीरनरेश कलशके राज्यकालमें विक्रम संवत् ११२० के लगभग काश्मीरसे निकला था । जिस समय वह धारामें आया था, भोजदेवकी मृत्यु हो चुकी थी । इससे स्पष्ट है कि विन्ध्यवर्माके मंत्री विल्हणसे विद्यापति विल्हण भिन्न पुरुष थे ।

विल्हणचरित नामका एक काव्य विल्हण कविका वनाया हुआ प्रसिद्ध है । परन्तु इतिहासज्ञोंका मत है कि उसका कर्त्ता विल्हण

१—राजा भोजकी मृत्यु वि० सं० १११२के पूर्व हो चुकी थी और १११५ में उदयादित्यको राज्य मिल चुका था, ऐसा परमार राजाओंके लेखोंसे सिद्ध हो चुका है ।

नहीं है; किसी दूसरे कविने उसकी रचना की है और यदि बिल्हणने की हो, तो वह विद्यापति बिल्हणसे भिन्न होना चाहिये। परन्तु भिन्न होकर भी वह विन्ध्यवर्माका मंत्री बिल्हण नहीं हो सकता। क्योंकि उक्त काव्यमें जिस वैरिसिंह राजाकी कन्या शशिकलाके साथ बिल्हणका प्रेमसम्बन्ध होना वर्णित है, वह विक्रमसंवत् ९०० के लगभग हुआ है। इससे आशाधरके समयके साथ उसका भी ठीक नहीं बैठ सकता है।

शार्ङ्गधरपद्धति और **सूक्तमुक्तावली** आदि सुभाषित ग्रन्थोंमें बिल्हण कविके नामसे बहुतसे श्लोक ऐसे मिलते हैं, जो न तो विद्यापति बिल्हणके **विक्रमांकदेवचरित** तथा **कर्णसुन्दरी** नाटिकामें हैं और न **बिल्हणचरितमें** हैं। क्या आश्चर्य है, जो उनके बनानेवाले आशाधरकी प्रशंसा करनेवाले बिल्हण ही हों।

आशाधरने अपनी प्रशंसा करनेवाले दो विद्वानोंके नाम और भी लिखे हैं, जिनमेंसे एकका नाम **उदयसेन** और दूसरेका नाम **मदनकीर्ति** है। ये दोनों ही दिगम्बर मुनि थे। क्योंकि इनके नामके साथ **मुनि** और **यतिपति** विशेषण लगे हुए हैं। देखिये, उदयसेन क्या कहते हैं:—

---

१. कर्णसुंदरीनाटिकाके मंगलाचरणमें जिनदेवको नमस्कार किया गया है। इसका कारण यह नहीं है कि विद्यापति बिल्हण जैनी थे। किन्तु उक्त नाटिका अणहिलपाटनके राजा कर्णके जैन मंत्री सम्पत्करके बनवाये हुए आदिनाथ भगवान्के यात्रामहोत्सवपर खेलनेके लिये बनाई गई थी, इसलिये उसमें जिनदेवको नमस्कार करना ही उन्होंने उचित समझा होगा। पीछेसे अपने इष्टदेव शिवपार्वतीको भी नमस्कार किया है।

व्याघ्रेरवालवरवंशसरोजहंसः
काव्यामृतौघरसपानसुतृप्तगात्रः ।
सल्लक्षणस्य तनयो नयविश्वचक्षु—
राशाधरो विजयतां कलिकालिदासः ॥ ३ ॥

अर्थात्—जो बघेरवालोंके श्रेष्ठवंशरूपी सरोवरसे उत्पन्न हुआ हंस है, काव्यामृतके पानसे जिसका हृदय तृप्त है, जो सम्पूर्ण नयोंका जाननेवाला है और जो श्रीसल्लक्षणका पुत्र है, वह कलियुगका कालिदास आशाधर जयवन्त होवे ।

इसी प्रकारसे श्रीमदनकीर्तिमुनिने कहा था कि—

इत्युदयसेनमुनिना कविसुहृदा योऽभिनन्दितः प्रीत्या ।
प्रज्ञापुञ्जोसीति च योऽभिहितो मदनकीर्तियतिपतिना ॥ ४ ॥
" अर्थात् आप प्रज्ञाके पुंज हैं अर्थात् विद्याके भंडार हैं । "

इन दोनों विद्वानोंमेंसे हमको उदयसेनके विषयमें तो केवल इतना ही मालूम है कि वे कविके मित्र थे और मदनकीर्तिके विषयमें इससे अधिक और कुछ नहीं कहा जा सकता कि वे एक ' यतिपति ' वा जैन मुनि थे । मदनोपाध्याय वा बालसरस्वति 'मदन' से कुछ नामसाम्य देखकर भ्रम होता है कि मदनकीर्ति और मदनोपाध्याय (राजगुरु) एक होंगे । परन्तु इसके लिये कोई संतोषप्रद प्रमाण नहीं ।

मालवाधीश महाराज अर्जुनदेव बड़े भारी विद्वान् और कवि थे ।

अमरुशतककी उनकी बनाई हुई **रससंजीविनी** नामकी एक टीका काव्यमालामें प्रकाशित हुई है। इस टीकामें जगह जगहपर ' यदुक्तमुपाध्यायेन बालसरस्वत्यपरनाम्ना मदनेन " इस प्रकार लिखकर मदनोपाध्यायके अनेक श्लोक उदाहरणस्वरूप उद्धृत किये हैं और भव्यकुमुदचन्द्रिका टीकाकी प्रशस्तिके नवमश्लोकके अन्तिमपदकी टीकामें पं० आशाधरने भी लिखा है, " आपुः प्राप्ताः, के बालसरस्वतिमहाकविमदनादयः। " इससे स्पष्ट हो जाता है कि अमरुशतकमें जिनके श्लोक उदाहरणस्वरूप ग्रहण किये गए हैं, वे ही आशाधरके शिष्य महाकवि मदन हैं। इसके सिवाय प्राचीन लेखमालामें अर्जुनवर्मदेवका जो तीसरा दानपत्र प्रकाशित हुआ है, उसके अन्तमें " रचितमिदं राजगुरुणा मदनेन " इस प्रकार लिखा हुआ है। इससे इस विषयमें भी शंका नहीं रहती है कि आशाधरके शिष्य मदनोपाध्याय जिनका दूसरा नाम 'बालसरस्वती' था, मालवाधीश महाराज अर्जुनदेवके गुरु थे।

अमरुशतककी टीकामें जो श्लोक उद्धृत किये गए हैं, उनसे मालूम पड़ता है कि महाकवि मदनोपाध्यायका बनाया हुआ कोई अलंकारका ग्रन्थ होगा जो अभीतक कहीं प्रसिद्ध नहीं है। हमारे एक विद्वान् मित्रने लिखा है कि बालसरस्वती मदनोपाध्यायकी बनाई हुई एक **पारिजातमंजरी** नामकी नाटिका है। परन्तु उसके देखनेका हमको अभीतक सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ।

मदनकीर्तिके सिवाय आशाधरके अनेक शिष्य थे। व्याकरण, काव्य, न्याय, धर्मशास्त्र आदि विषयोंमें उनकी असाधारण गति थी।

इन सब विषयोंमें उन्होंने सैकड़ों शिष्योंको निष्णात कर दिया था। देखिये, वे क्या कहते हैं:—

यो द्राग्व्याकरणाब्धिपारमनयच्छुश्रूषमाणान्नकान्
षट्तर्कीपरमास्त्रमाप्य न यतः प्रत्यर्थिनः केऽक्षिपन्।
चेरुः केऽस्खलितं न ये न जिनवाग्दीपं पथि ग्राहिताः
पीत्वा काव्यसुधां यतश्च रसिकेष्वापुः प्रतिष्ठां न के ॥९॥

भावार्थ—शुश्रूषा करनेवाले शिष्योंमेंसे ऐसे कौन हैं, जिन्हें आशाधरने व्याकरणरूपी समुद्रके पार शीघ्र ही न पहुंचा दिया हो तथा ऐसे कौन हैं, जिन्होंने आशाधरसे षट्दर्शनरूपी परम शस्त्रको लेकर अपने प्रतिवादियोंको न जीता हो तथा ऐसे कौन हैं, जो आशाधरसे निर्मल जिनवचनरूपी (धर्मशास्त्र) दीपक ग्रहण करके मोक्षमार्गमें प्रवृत्त नहीं हुए हों, अर्थात् मुनि न हुए हों और ऐसे कौन शिष्य हैं, जिन्होंने आशाधरसे काव्यामृतका पान करके रसिक पुरुषोंमें प्रतिष्ठा नहीं पाई हो।

इस श्लोककी टीकामें पंडितवर्यने प्रत्येक विषयके पार पहुंचे हुए अपने एक २ दो २ शिष्योंका नाम भी दे दिया है। पंडित देवचंद्रादिको उन्होंने व्याकरणज्ञ बनाया था, वादीन्द्र विशालकीर्ति आदिको षड्-दर्शनन्यायका ज्ञाता बनाकर वादियोंपर विजय प्राप्त कराई थी, भट्टारक देवचन्द्र विनयचन्द्र आदिको धर्मशास्त्र पढ़ाकर मोक्षमार्गमें प्रवृत्त किया था और मदनोपाध्यायादिको काव्यके पंडित बनाकर अर्जुन-वर्मदेव जैसे रसिक राजाओंकी प्रतिष्ठाका अधिकारी (राजगुरु) बना दिया था। पाठक इससे जान सकते हैं कि आशाधरकी विद्वत्ता,

पढ़ानेकी शक्ति और परोपकारशीलता कैसी थी। गृहस्थ होनेपर भी बड़े २ मुनि उनके पास विद्याध्ययन करके अपनी विद्यातृष्णाको पूर्ण करते थे। उस समयके इतिहासकी यह एक विलक्षण घटना है, जो नीतिके इस वाक्यको स्मरण कराती है– "गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः" अर्थात्, गुणवानोंमें उनके गुण ही पूजनेके योग्य होते हैं, उनकी उमर अथवा वेष नहीं।

विन्ध्यवर्माका और उनके पीछे उनके पुत्र सुभटवर्माका राज्यकाल समाप्त हो चुकनेपर आशाधरने धारानगरीको छोड़ दी और नलकच्छपुरको अपना निवासस्थान बनाया। नलकच्छपुरमें आ रहनेका कारण उन्होंने अपने प्यारे धर्मकी उन्नति करना बतलाया है,—

श्रीमदर्जुनभूपालराज्ये श्रावकसंकुले।
जिनधर्मोदयार्थं यो नलकच्छपुरेऽवसत्॥ ८॥

इससे यह भी अनुमान होता है कि वे धारासे अकेले आये होंगे। गृहस्थाश्रमसे उन्होंने एक प्रकारसे सम्बन्ध छोड़ दिया होगा।

नलकच्छपुरको इस समय नालछा कहते हैं। यह स्थान धारसे १० कोसकी दूरीपर है। सुना है, इस समय वहांपर जैनियोंके थोड़ेसे घर और जैनमंदिर हैं। परन्तु आशाधरके समय वहांपर जैनियोंकी बहुत बड़ी बस्ती थी। जैनधर्मका जोर शोर भी वहा बहुत होगा। ऐसा हुए विना आशाधर सरीखे विद्वान् धारा जैसी महानगरीको छोड़कर वहां रहनेको नहीं जाते। अवश्य ही वहांपर जैनधर्मकी उन्नति करनेके लिये धारासे अधिक साधन एकत्र होंगे।

जिस समय पंडितवर्य आशाधर नालछाको गये, उस समय मालवामें महाराज अर्जुनवर्मदेवका राज्य था। अर्जुनवर्मदेवके अभी-तक तीन दानपत्र प्राप्त हुए हैं, जिनमेंसे एक विक्रमसंवत् १२६७ का है, जो पिप्पलिया नगरमें है और मंडपदुर्गमें दिया गया था। दूसरा वि० सं० १२७० का भोपालमें है और भृगुकच्छ (भरोंच) में दिया गया था और तीसरा १२७२ का है, जो अमरेश्वर तीर्थमें दिया गया था और भोपालमें है। इसके पश्चात् अर्जुनदेवके पुत्र देवपालदेवके राजत्वकालका एक शिलालेख हरसोदामें मिला है, जो वि० सं० १२७५ का लिखा हुआ है। इससे मालूम पड़ता है कि १२७२ और १२७५ के बीचमें किसी समय अर्जुनदेवके राज्यका अन्त हुआ था और १२६७ के पहले उनके राज्यका प्रारंभ हुआ था। कब प्रारंभ हुआ था, इसका निश्चय करनेके लिये विन्ध्यवर्मा और सुभटवर्मा इन दो राजाओंके राज्यकालके लेख मिलना चाहिये, जो अभीतक हमको प्राप्त नहीं हुए हैं। तो भी ऐसा अनुमान होता है कि १२६७ के अधिकसे अधिक २–३ वर्ष पहले अर्जुनवर्माको राज्य मिला होगा। क्योंकि संवत् १२५० में जब आशाधर धारामें आये थे, तब विन्ध्यवर्माका राज्य था और जब वे विद्वान् हो गये थे, तब भी विन्ध्यवर्माका राज्य था। क्योंकि मंत्री बिल्हणने आशाधरकी विद्वत्ताकी प्रशंसा की थी। यदि आशाधरके विद्याभ्यास कालके केवल ७–८ वर्ष गिने जावें, तो

१–अमेरिकन् ओरियंटल सुसाइटीका जनरल भाग ७, पृष्ठ ३२। २–अ० ओ० सु० का जनरल भाग ७, पृष्ठ २५।

विन्ध्यवर्मोका राज्य वि० सं० १२५७–५८ तक समझना चाहिये। विन्ध्यवर्मोके पश्चात् सुभटवर्मोके राज्यके कमसे कम ७ वर्ष माने जावें, तो अर्जुनदेवके राज्यारंभका समय वि० सं० १२६५ गिनना चाहिये। इसी १२६५ के लगभग आशाधर नालछेमें आये होंगे।

पंडितप्रवर आशाधरकी मृत्यु कब हुई इसके जाननेका कोई उपाय नहीं है। उनके बनाये हुए जो २ ग्रन्थ प्राप्य हैं, उनमेंसे अनगारधर्मामृतकी भव्यकुमुदचन्द्रिका टीका कार्तिक सुदी ५ सोमवार सं० १३०० को पूर्ण हुई है। इसके पीछेका उनका कोई भी ग्रन्थ नहीं मिलता है। इस ग्रन्थके बनानेके समय हमारे ख़यालसे पंडितराजकी आयु ६५–७० वर्षके लगभग होगी। क्योंकि उनका जन्म वि० सं० १२३०–३५ के लगभग सिद्ध किया जा चुका है। इस ग्रन्थकी प्रशस्तिसे यह भी मालूम होता है कि वे उस समय नालछेमें ही थे। और शायद सं० १२६५ के पश्चात् उन्होंने कभी नालछा छोड़ा भी नहीं। क्योंकि उनके १२६५ और १३०० के मध्यके जो दो ग्रन्थ मिलते हैं, वे भी नालछेके बने हुए हैं। एक वि० सं० १२८५ का और दूसरा १२९६ का। नालछेमें कविवर जैनधर्मका उद्योत करनेके लिये आये थे, फिर क्या प्रतिज्ञा पूरी किये बिना ही चले जाते? अंत समय तक वे नालछेमें ही रहे और वहीं उन्होंने अपने अपूर्व ग्रन्थोंकी रचना करके जैनधर्मका मस्तक ऊंचा किया।

वर्तमानमें पं० आशाधरके मुख्य तीन ग्रन्थ सुलभ हैं और प्रायः प्रत्येक भंडारमें मिल सकते हैं। एक जिनयज्ञकल्प, दूसरा सागारधर्मा-

मृत और तीसरा अनगारधर्मामृत । इन तीनों ही ग्रन्थोंमें वे अपनी विस्तृत प्रशस्ति लिखके रख गये हैं । वि० संवत् १३०० तक उन्होंने जितने ग्रन्थोंकी रचना की है, उन सबके नाम उक्त तीनों प्रशस्तियोंमें लिखे हुए हैं। हम उन्हें यहां क्रमसे प्रकाशित करते हैंः—

स्याद्वादविद्याविशदप्रसादः प्रमेयरत्नाकरनामधेयः ॥
तर्कप्रबन्धो निरवद्यपद्यपीयूषपूरो वहतिस्म यस्मात् ॥ १० ॥
सिद्ध्यङ्कं भरतेश्वराभ्युदयसत्काव्यं निबन्धोज्ज्वलम्
यस्त्रैविद्यकवीन्द्रमोदनसहं स्वश्रेयसेऽरीरचत् ।
योऽर्हद्वाक्यरसं निबन्धरुचिरं शास्त्रं च धर्मामृतम्
निर्माय न्यदधान्मुमुक्षुविदुपामानन्दसान्द्रं हृदि ॥ ११ ॥
आयुर्वेदविदामिष्टां व्यक्तुं वाग्भटसंहिताम् ।
अष्टाङ्गहृदयोद्योतं निबन्धमसृजच्च यः ॥ १२ ॥
यो मूलाराधनेष्टोपदेशादिषु निबन्धनम् ।
विधत्तामरकोशे च क्रियाकलापमुज्जगौ ॥ १३ ॥

(जिनयज्ञकल्प.)

भावार्थ—स्याद्वादविद्याका निर्मल प्रसादस्वरूप प्रमेयरत्नाकर नामका न्यायग्रन्थ जो सुन्दर पद्यरूपी अमृतसे भरा हुआ है, आशाधरके हृदयसरोवरसे प्रवाहित हुआ । भरतेश्वराभ्युदय नामका

१—ये १३ श्लोक तीनों प्रशस्तियोंमें एकसे हैं । अनगारधर्मामृतकी टीकामें वारहवाँ श्लोक १९ वें नम्बरपर है और तेरहवां चौदहवें नम्बरपर है । उनके स्थानपर जो दूसरे श्लोक हैं, वे आगे लिखे गये हैं । २-३. ये दोनों ग्रन्थ सोनागिरके भट्टारकके भण्डारमें हैं ।

उत्तम काव्य अपने कल्याणके लिये बनाया, जिसके प्रत्येक सर्गके अंतमें ' सिद्ध ' शब्द रक्खा गया है, जो तीनों विद्याओंके जानने-वाले कवीन्द्रोंको आनन्दका देनेवाला है और स्वोपज्ञटीकासे प्रकाशित है। धर्मामृतशास्त्र जो कि जिनेन्द्र भगवानकी वाणीरूपीरससे युक्त है और टीकासे सुन्दर है, बनाकर मोक्षकी इच्छा करनेवाले विद्वा-नोंके हृदयमें अतिशय आनन्द उत्पन्न किया। आयुर्वेदके विद्वानोंकी[1] प्यारी वाग्भट्टसंहिताकी अष्टांगहृदयोद्योतिनी नामकी टीका बनाई, मूल आराधना और मूल इष्टोपदेश[2] (पूज्यपादकृत) आदिकी टीकाएँ बनाईं और अमरकोषपर क्रियाकलाप नामकी टीका बनाई। इसमें जो आदि शब्द दिया है, उससे आराधनासार, भूपाल-चतुर्विंशतिका आदिकी टीकाएँ समझनी चाहिये। अर्थात् इन ग्रन्थोंकी टीकाएँ भी पंडितवर्यने बनाईं।

ये सब ग्रन्थ विक्रमसंवत् १२८५ के पहलेके बने हुए हैं। जिनयज्ञकल्पकी प्रशस्तिमें इतने ही ग्रन्थोंका उल्लेख है। इनके प-श्चात् सं० १२९६ तक अर्थात् सागारधर्मामृतकी टीका बनानेके समय तक निम्नलिखित ग्रन्थोंकी रचना और भी हुई:—

> रौद्रटस्य व्यधात् काव्यालङ्कारस्य निबन्धनम्
> सहस्रनामस्तवनं सनिबन्धं च योऽर्हताम् ॥ १४ ॥
> सनिबन्धं यश्च जिनयज्ञकल्पमरीरचत् ।
> त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्रं यो निबन्धालङ्कृतं व्यधात् ॥ १५ ॥

---

१. इससे जान पड़ता है कि आशाधर वैद्यविद्याके भी बड़े भारी पंडित थे।

२. पूज्यपादका मूल इष्टोपदेश बम्बईके मन्दिरमें है। इसकी भाषाटीका भी किसी जयपुरी पंडितकी बनाई हुई है।

योऽर्हन्महाभिषेकार्चाविधिं मोहतमोरविम्
चक्रे नित्यमहोद्योतं स्नानशास्त्रं जिनेशिनाम् ॥ १६ ॥

(सागारधर्मामृत टीका)

भावार्थ—रुद्रट कविके काव्यालंकार ग्रन्थकी टीका बनाई, अरहंत देवका सहस्रनाम[2] टीकासहित बनाया, जिनयज्ञकल्प सटीक बनाया, त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्र (संक्षिप्त) टीकायुक्त बनाया और नित्य[3]महोद्योत नामक अभिषेकका ग्रन्थ बनाया, जो भगवान्की अभिषेकपूजाविधि सम्बन्धी अंधकारको नाश करनेके लिये सूर्यके समान है।

वि० संवत् १२९६ के पीछे बने हुए ग्रन्थोंके नाम अनगारधर्मामृतकी टीकामें इस प्रकार मिलते हैं:—

राजीमतीविप्रलम्भं नाम नेमीश्वरानुगम् ।
व्यधात्त खण्डकाव्यं यः स्वयंकृतनिबन्धनम् ॥ १२ ॥
आदेशात्पितुरध्यात्मरहस्यं नाम यो व्यधात् ।
शास्त्रं प्रसन्नगम्भीरं प्रियमारब्धयोगिनाम् ॥ १३ ॥
रत्नत्रयविधानस्य पूजामाहात्म्यवर्णकम् ।
रत्नत्रयविधानाख्यं शास्त्रं वितनुतेस्म यः ॥ १८ ॥

(अनगारधर्मामृत टीका)

---

१. यह भी सोनागिरके भंडारमें है। २. आशाधरकृत मूल सहस्रनाम प्रायः सब जगह मिलता है। बुन्देलखंडमें प्रायः इसी सहस्रनामका प्रचार है। ३. नित्यमहोद्योत बम्बईके भंडारमें है।

भावार्थ—राजामती विप्रलंभ नामका खंडकाव्य स्वोपज्ञ टीका-सहित बनाया, पिताकी आज्ञासे अध्यात्मरहस्य नामका ग्रन्थ बनाया, जो शीघ्र ही समझनेमें आने योग्य, गंभीर और प्रारंभके योगियोंका प्यारा है और रत्नत्रय विधानक पूजा तथा माहात्म्यका वर्णन करनेवाला रत्नत्रयविधान नामका ग्रन्थ बनाया।

संवत् १३०० के पश्चात् यदि पंडितवर्य दश ही वर्ष जीवित रहे होंगे, तो अवश्य ही उनके बनाये हुए और भी बहुतसे ग्रन्थ होंगे। ग्रन्थरचना करना ही उन्होंने अपने जीवनका मुख्य कर्तव्य समझा था।

आशाधरके बनाये हुए ग्रंथ बहुत ही अपूर्व हैं। उन सरीखे ग्रन्थकर्ता बहुत कम हुए हैं। उनका बनाया हुआ सागारधर्मामृत ग्रन्थ बहुत ही अच्छा है। जिसने एकबार भी इस ग्रन्थका स्वाध्याय किया है, वह इसपर मुग्ध हो गया है। अनगारधर्मामृत और जिनयज्ञकल्प ग्रन्थ भी ऐसे ही अपूर्व हैं। हम एक पृथक् लेखमें आशाधरके ग्रन्थोंकी आलोचना करनेका प्रयत्न कर रहे हैं।

अध्यात्मरहस्य कविवरने अपने पिताकी आज्ञासे बनाया। इससे मालूम पड़ता है कि उनके पिता सं० १२९६ के पीछे भी कुछ काल तक जीवित थे। क्योंकि इस ग्रन्थका पहले दो ग्रन्थोंकी प्रशस्तिमें उल्लेख नहीं है; अनगारधर्मामृतकी टीकामें ही उल्लेख है और उसमें जो अधिक ग्रन्थ बतलाये गये हैं, वे १२९६ के पीछेके हैं।

महाराज अर्जुनदेवके वि० सवंत् १२७२ के दानपत्रके अन्तमें लिखा हुआ हैः—" रचितामिदं महासान्धि० राजा सलखणसंमतेन राजगुरुणा मदनेन " इससे ऐसा मालूम होता है कि पं० आशाधरके पिता सलखण (सल्लक्षण) महाराजा अर्जुनदेवके सान्धिविग्रह सम्बन्धी मंत्री थे। यद्यपि आशाधरके पिता महाजन थे और दानपत्रमें सम्मति देनेवाले सलखणके साथ 'राजा' पद लगा हुआ है, इससे अन्य किसी सलखण नामक राजाकी भी संभावना भी हो सकती है, परन्तु आशाधरके पिताका संधिविग्रहको मंत्रियोंका राजा होना कुछ आश्चर्यकी बात भी नहीं है। क्योंकि उस समय प्रायः महाजन लोग ही राज्यमंत्री होते थे।

अब हम यहांपर तीनों ग्रंथोंकी प्रशस्तियोंके बाकी श्लोक जो ऊपर कहीं नहीं लिखे गये हैं, भावार्थसहित उद्धृत करते हैंः—

प्राच्यानि संवर्ज्य जिनप्रतिष्ठाशास्त्राणि दृष्ट्वा व्यवहारमैन्द्रम्।
आम्नायविच्छेदतमश्छिदोऽयं ग्रन्थःकृतस्तेन युगानुरूपम् १४

खण्डिल्यान्वयभूषणाल्हणसुतः सागारधर्मे रतो
वास्तव्यो नलकच्छचारुनगरे कर्ता परोपक्रियाम्।
सर्वज्ञार्चनपात्रदानसमयोद्योतप्रतिष्ठाग्रणीः
पापासाधुरकारयत्पुनरिमं कृत्वोपरोधं मुहुः ॥ १५ ॥

विक्रमवर्षसपञ्चाशीतिद्वादशशतेष्वतीतेषु।
आश्विनसितान्त्यदिवसे साहसमल्लापराख्यस्य—॥ १६ ॥

श्रीदेवपालनृपतेः प्रमारकुलशेखरस्य सौराज्ये।
नलकुच्छपुरे सिद्धो ग्रन्थोऽयं नेमिनाथचैत्यगृहे ॥ १७ ॥

अनेकार्हत्प्रतिष्ठान्तप्रतिष्ठैः केल्हणादिभिः ।
सद्यः सूक्तानुरागेण पठित्वाऽयं प्रचारितः ॥ १८॥

अलमतिप्रसङ्गेन—

यावत्रिलोक्यां जिनमन्दिरार्चाः तिष्ठन्ति शक्रादिभिरर्च्यमानाः ।
तावज्जिनादिप्रतिमाप्रतिष्ठां शिवार्थिनोऽनेन विधापयन्तु ॥१९॥
नन्द्याखाण्डिल्यवंशोत्थः केल्हणो न्यासवित्तरः ।
लिखितं येन पाठार्थमस्य प्रथमपुस्तकम् ॥ २० ॥

इत्याशाधर विरचितो जिनयज्ञकल्पः ।

भावार्थ—प्राचीन प्रतिष्ठापाठोंको वर्जित करके और इंद्रसम्बन्धी व्यवहारको देखकर यह वर्तमान युगके अनुकूल ग्रंथ बनाया, जो कि आम्नायविच्छेदरूपी अंधकारको नाश करनेवाला है। खंडेलवाल वंशके भूषणरूप अल्हणके पुत्र, श्रावकधर्ममें लवलीन रहनेवाले, नलकच्छपुर-निवासी, परोपकारी, देवपूजा, पात्रदान तथा जिनशासनका उद्योत करनेवाले और प्रतिष्ठाग्रणी पापासाधुने वारंवार अनुरोध करके यह ग्रंथ बनवाया। आसोज सुदी १९ वि० सं० १२८९ के दिन परमारकुलके मुकुट देवपाल उर्फ साहसमल्ल राजाके राज्यमें नलकच्छपुर नगरके नेमिनाथ चैत्यालयमें यह ग्रंथ समाप्त हुआ। अनेक जिनप्रतिष्ठाओंमें प्रतिष्ठा पाये हुए केल्हण आदि विद्वानोंने नवीन सूक्तियोंके अनुरागसे इस ग्रन्थका प्रचार किया। जब तक तीन लोकमें जिनमंदिरोंकी पूजा इंद्रादिकोंके द्वारा होती है, तब तक कल्याणकी इच्छा करनेवाले इस ग्रन्थसे जिनप्रतिमाओंकी प्रतिष्ठा करावें। खंडेलवालवंशमें उत्पन्न

हुए और न्यासग्रंथको अच्छी तरहसे जाननेवाले केल्हणने पाठ करनेके लिये जिनयज्ञकल्पकी पहली पुस्तक लिखी ।

सोऽहं आशाधरो रम्यामेतां टीकां व्यरीरचम् ।
धर्मामृतोक्तसागारधर्माष्टाध्यायगोचराम् ॥ १७ ॥
प्रमारवंशवार्धीन्दु—देवसेननृपात्मजे ।
श्रीमज्जैतुगिदेवेसि स्थाम्नावन्तीमवत्यलम् ॥ १८ ॥
नलकच्छपुरे श्रीमन्नेमिचैत्यालयेऽसिधत् ।
टीकेऽयं भव्यकुमुदचन्द्रिकेत्युदिता बुधैः ॥ १९ ॥
षण्णवद्व्येकसंख्यानविक्रमाङ्कसमात्यये ।
सप्तम्यामसिते पौषि सिद्धेयं नन्दताच्चिरम् ॥ २० ॥
श्रीमान्श्रेष्ठिसमुद्धरस्य तनयः श्रीपौरपाटान्वय—
व्योमेन्दुः सुकृतेन नन्दतु महीचन्द्रोदयाभ्यर्थनात् ।
चक्रे श्रावकधर्मदीपकमिमं ग्रन्थं बुधाशाधरो—
ग्रंथस्यास्य च लेखितो मलभिदे येनादिमं पुस्तकम् ॥ २१ ॥

अलमितिप्रसंगेन—

यावत्तिष्ठति शासनं जिनपतेश्छेदानमन्तस्तमो—
यावच्चार्कनिशाकरौ प्रकुरुतः पुंसां दृशामुत्सवम् ।
तावत्तिष्ठतु धर्मसूरिभिरियं व्याख्यायमानानिशं—
भव्यानां पुरुतोत्र देशविरताचारप्रबोधोद्धुरा ॥ २२ ॥

इत्याशाधरविरचिता स्वोपज्ञधर्मामृतसागारटीका भव्यकुमुदचन्द्रिका-नाम्नी समाप्ता ।

भावार्थ—मैंने (आशाधरने) सागारधर्मामृतकी यह सुन्दर टीका बनाई जिसके आठ अध्याय हैं। जब परमारवंशशिरोमणि देवसेन राजाके पुत्र श्रीमान् जैतुगिदेव अपने खड्गके बलसे मालवाका शासन करते थे, तब नलकच्छपुरके नेमिनाथ चैत्यालयमें यह भव्यकुमुदचन्द्रिका टीका पौषवदी ७ सं० १२९६ को पूर्ण हुई। यह श्रावक धर्मदीपक ग्रन्थ पंडित आशाधरने बनाया और पोरवाड़वंशरूपी आकाशके चन्द्रमा श्रीमान् समुद्धरश्रेष्ठीके पुत्रने महीचन्द्रकी प्रार्थनासे इसकी पहिली पुस्तक लिखी। उस श्रेष्ठीपुत्रके पुण्यकी बढ़वारी हो। अन्तरंगके अंधकारको नष्ट करनेवाला जिनेन्द्रदेवका शासन जब तक रहे और जबतक चन्द्रसूर्य लोगोंके नेत्रोंको आनन्दित करते रहें, तब तक यह श्रावकधर्मका ज्ञान करानेवाली टीका भव्य जनोंके आगे धर्माचार्योंके द्वारा निरन्तर पढ़ी जावे।

सोऽहमाशाधरोऽकार्षं टीकामेतां मुनिप्रियाम्।
स्वोपज्ञधर्मामृतोक्तयतिधर्मप्रकाशिनीम् ॥ २० ॥
शब्दे चार्थे च यत्किञ्चिदत्रास्ति स्खलितं मम।
छद्मस्थभावात्संशोध्य सूरयस्तत्पठन्त्विमाम् ॥
नलकच्छपुरे पौरपौरस्त्यः परमार्हतः।
जिनयज्ञगुणौचित्यकृपादानपरायणः ॥ २२ ॥
खंडिल्यान्वयकल्याणमाणिक्यं विनयादिमान्।
साधुः पापाभिधः श्रीमानसीत्पापपराङ्मुखः ॥ २३ ॥
तत्पुत्रो बहुदेवोऽभूदाद्यः पितृभरक्षमः।
द्वितीयः पद्मसिंहश्च पद्मालिंगितविग्रहः ॥ २४ ॥

बहुदेवात्मजाश्चासन् हरदेवः स्फुरद्गुणः ।
उदयी स्तम्भदेवश्च त्रयस्त्रैवर्गिकाग्रणीः ॥ २५ ॥

मुग्धबुद्धिप्रबोधार्थं महीचन्द्रेण साधुना ।
धर्मामृतस्य सागारधर्मटीकास्ति कारिता ॥ २६ ॥

तस्यैव यतिधर्मस्य कुशाग्रीयधियामपि ।
सुदुर्बोधस्य टीकायै प्रसादः क्रियतामिति ॥ २७ ॥

हरदेवेन विज्ञप्तो धनचन्द्रोपरोधतः ।
पण्डिताशाधरश्चक्रे टीकां क्षोदक्षमामिमाम् ॥ २८

विद्वद्भिर्भव्यकुमुदचन्द्रिकेत्याख्ययोदिता ।
शिष्टाप्याकल्पमेषास्तां चिन्त्यमाना मुमुक्षुभिः ॥ २९ ॥

प्रमारवंशवार्धीन्दुदेवपालनृपात्मजे ।
श्रीमज्जैतुगिदेवेऽसि स्थाम्नावन्तीमवत्यलम् ॥ ३०॥

नलकच्छपुरे श्रीमन्नेमिचैत्यालयेऽसिधत् ।
विक्रमाब्दशतेष्वेषा त्रयोदशसु कार्तिके ॥ ३१ ॥

अनुष्टुप्छन्दसामस्याः प्रमाणं द्विशताधिकैः ।
सहस्रैर्द्वादशमितं विज्ञेयमनुमानतः ॥ ३२ ॥

सज्जननिवेदन—

शान्तिः शं तनुतां समस्तजगतः संगच्छतां धार्मिकैः
श्रेयः श्रीः परिवर्धतां नयधुराधुर्यो धरित्रीपतिः ॥
सद्विद्यारसमुद्गिरन्तु कवयो नामाप्यघस्यास्तु मा
प्रार्थ्यं वा कियदेक एव शिवकृद्धर्मो जयत्वर्हताम् ॥ ३३ ॥

इत्याशाधरविरचिताऽनल्पात्महरदेवानुमता
धर्मामृतयतिधर्मटीका समाप्ता ॥

भावार्थ—मुझ आशाधरने यह अनगारधर्मामृतकी मुनियोंको प्यारी लगनेवाली और यतिधर्मका प्रकाश करनेवाली स्वोपज्ञटीका बनाई। यदि इसमें कहींपर कुछ शब्द अर्थमें भूल हुई हो तो उसे मुनिजन पंडितजन संशोधन करके पढ़ें; क्योंकि मैं छद्मस्थ हूं। नल-कच्छपुरमें (नालछेमें) पापानामके एक सज्जन जैनी हैं, जो कि खंडेलवालवंशके हैं, नगरके अगुए हैं, जिनपूजा कृपादानादि करनेमें तत्पर हैं, विनयवान् हैं, पापसे पराङ्मुख हैं और श्रीमान् हैं। उनके दो पुत्र हैं एक बहुदेव और दूसरे पद्मसिंह। बहुदेवके तीन पुत्र हैं—हरदेव, उदय और स्तंभदेव (?)।

धर्मामृत ग्रन्थके सागारभागकी टीका महीचन्द्र नामके साधुने बालबुद्धि जनोंके समझानेके लिये बनवाई और उसी धर्मामृतके अन-गारभागकी टीका बनानेके लिये हरदेवने प्रार्थना की और धनचन्द्रने आग्रह किया। अतएव इन दोनोंकी प्रार्थना और आग्रहसे पण्डित आशाधरने यह टीका जिसका कि नाम भव्यकुमुदचन्द्रिका है कुशाग्रबुद्धिवालोंके लिये बनाई। यह मोक्षाभिलाषी जीवोंके द्वारा पठन-पाठनमें आती हुई कल्पान्त कालतक ठहरे।

परमार वंशीय महाराज देवपालके पुत्र जैतुगिदेव जिस समय अवन्ती (उज्जैनमें) राज्य करते थे, उस समय यह टीका नल-कच्छपुरके नेमिनाथ भगवान्के चैत्यालयमें वि० संवत् १३०० के कार्तिक माससें पूर्ण हुई। इसमें लगभग बारह हजार श्लोक (अनुष्टप्) हैं।

पं० आशाधरके विषयमें जितना परिचय मिल सका, वह हमने पाठकोंके आगे निवेदन कर दिया। इससे अधिक परिचय पानेके लिये आशाधरके दूसरे ग्रन्थोंकी खोज करना चाहिये। मालवामें प्रयत्न किया जावे, तो हमको आशा होती है कि, उनके बहुतसे ग्रन्थ मिल जावेंगे। इस विषयमें हमने नालछाके एक सज्जनको लिखा था, जो कि जैनहितैषीके ग्राहक हैं। परन्तु उन्होंने हमको कुछ उत्तर भी नहीं दिया!

इस लेखके लिखनेमें हमको सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ पं० गौरीशंकर हीराचन्द्र ओझासे बहुत कुछ सहायता मिली है, इस लिये हम उनका हृदयसे आभार मानते हैं।

श्रीअमितगतिसूरि।

कविकुल–कमल–दिवाकर महाराजाधिराज भोजके समयमें संस्कृत विद्याकी जैसी उन्नति हुई थी, उसके पीछे आजतक वैसी उन्नति नहीं हुई। संस्कृतसाहित्यके नामी २ कवि और ग्रन्थकार उसी समयमें हुए हैं। भोजदेवके चाचा महाराजाधिराज मुंज[1] भी कवि और विद्वानोंकी क़दर करनेवाले थे। यद्यपि भोजके समान इस विषयमें उनकी विशेष ख्याति नहीं है तो भी वे सरस्वतीके आलम्बन समझे जाते थे। संस्कृतकी मुरझाई हुई लताको उन्होंने चैतन्य किया था और फिर महाराज भोजने उसका भलीभांति रक्षण पोषण किया था। महाराज मुंजकी मृत्युके पश्चात् कहा गया था,—

लक्ष्मीर्यास्यति गोविन्दे वीरश्रीर्वीरवेश्मनि।
गते मुञ्जे यशःपुञ्जे निरालम्बा सरस्वती।

अर्थात् "यशपुंज महाराज मुंजकी मृत्युके पश्चात् लक्ष्मी तो गोविन्दके चली जायगी और वीरलक्ष्मी वीरोंके महलोंमें चली जावेगी; परंतु बेचारी सरस्वतीका कोई नहीं है। वह निराश्रिता हो जावेगी!" इस उक्तिके पढ़नेसे मुंजकी गुणग्राहकताके विषयमें कोई सन्देह नहीं रहता है।

---

१. मुंजके **वाक्पतिराज** और **अमोघवर्ष** ये दो नाम भी प्रसिद्ध हैं। प्रश्नोत्तररत्नमालिकाके कर्त्ता तथा **भगवज्जिनसेनके** शिष्य महाराजा **अमोघवर्ष** इनसे भिन्न हैं। वे राष्ट्रकूट वंशके राजा थे। उनका राज्यकाल शक संवत् ७३७ से ८०० तक माना जाता है।

जिस प्रकार महाराज विक्रमादित्यकी सभामें कालिदास, अमरसिंह आदि नव रत्न थे, सुनते हैं, उसी प्रकार मुंजकी सभामें भी अनेक कविरत्न थे। तिलकमंजरीके कर्त्ता धनपाल, दशरूपकके कर्त्ता धनिक, पिंगलसूत्रवृत्तिके प्रणेता हलायुध, नवसाहसाङ्कचरितके कर्त्ता पद्मगुप्त कवि और हमारे इस लेखके नायक महात्मा अमितगति इन्हीं महाराजके राज्यकालमें हुए हैं। पुण्यात्मा राजाके राज्यमें ही ऐसे विद्वान् अवतार लेते हैं।

महाराज मुंजका एक दानपत्र विक्रम संवत् १०३१ का प्राप्त हुआ है, जिसपर उनके हाथकी सही है और जिसे उनके प्रधान मंत्री रुद्रादित्यने लिखा था। और विक्रम संवत् १०७८ में तैलंग देशके राजा तैलिपदेवके द्वारा उनकी मृत्यु हुई थी। तथा उनकी मृत्युके पश्चात् भोजमहाराजका राज्याभिषेक हुआ था। यथाः—

विक्रमाद्वासरादष्टमुनिव्योमेन्दु (१०७८) संमिते।
वर्षे मुञ्जपदे भोजभूपः पट्टे निवेशितः।

मुंजका राज्याभिषेक कब हुआ था, इसका ठीक २ पता नहीं लगता है परन्तु संवत् १०३१ के कुछ वर्ष पहलेसे १०७८ तक वे मालवदेशके राजा रहे हैं, इसमें कुछ सन्देह नहीं है। महात्मा

---

१. श्रीमेरुतुंगाचार्यने प्रबन्धचिन्तामणिमें मुंजकी विस्तृत कथा लिखी है। तदनुसार उसे प्रकाश करनेका विचार है। उक्त कथाका पूर्व भाग विनोदीलालकृत भक्तामरचरित्रमें भी लिखा है।

अमितगति भी उक्त समयमें वर्तमान थे। वर्तमानमें उनके जो तीन ग्रन्थ मिलते हैं, उनमेंसे धर्मपरीक्षा विक्रम संवत् १०७० में रची गई थी और दूसरा सुभाषितरत्नसंदोह १०५० में बनाया गया था। यथाः—

समारूढे पूतत्रिदशवसतिं विक्रमनृपे
सहस्रे वर्षाणां प्रभवति हि पञ्चाशदधिके।
समाप्तं पञ्चम्यामवति धरिणीं मुञ्जनृपतौ
सितेपक्षे पौषे बुधहितमिदं शास्त्रमनघम् ॥

(सुभाषित)

संवत्सराणां विगते सहस्रे ससप्ततौ विक्रमपार्थिवस्य।
इदं निषिध्यान्यमतं समाप्तं जिनेन्द्रधर्म्मामितयुक्तिशास्त्रम् ॥

(धर्मपरीक्षा)

संवत् १०५० और १०७० के पहले और पीछेका हमको यद्यपि कुछ वृत्तान्त मालूम नहीं है और न वर्तमानमें उसके जाननेका कोई साधन है, परन्तु अनुमानसे यह कहनेमें कुछ हानि नहीं है कि, विक्रमसंवत् १०२५ के कुछ पहले श्रीअमितगतिसूरिका जन्म हुआ होगा। क्योंकि सुभाषितरत्नसंदोह जिस समय उन्होंने बनाया है, उस समय उनकी गणना श्रेष्ठ आचरणके धारण करनेवाले मुनियोंमें हो चुकी थी। उन्होंने स्वयं भी सुभाषितके अन्तमें अपने लिये शमदमयममूर्तिः चन्द्रशुभ्रोरुकीर्तिः आदि विशेषण

---

१. पौष सुदी ५ विक्रम संवत् १०५० में मुंजराजकी पृथ्वीपर इस पवित्र शास्त्रकी रचना समाप्त की। २. विक्रमराजाके १०७० संवत्में यह जिनधर्मकी अमित युक्तियोंवाला और अन्य मतोंका निषेध करनेवाला ग्रन्थ समाप्त हुआ।

दिये हैं। अर्थात् उस समय उनकी अवस्था खूब प्रौढ़ होगी और दीक्षा लिये हुए बहुत कम हुए होंगे; तो चार छह वर्ष ज़रूर हो चुके होंगे। इसके सिवाय यह भी अनुमान होता है कि उन्होंने बालकपनमें ही दीक्षा नहीं ले ली होगी, किन्तु कुछ काल गृहस्थाश्रमका अनुभव करके और फिर उससे विरक्ति लाभ करके ली होगी। धर्मपरीक्षाकी रचनामें उन्होंने जिस प्रकारकी व्यवहारकुशलता दिखलाई है, और सांसारिक घटनाओंके जैसे उत्तम चित्र खींचे हैं, उन्हें ध्यानस्थ करनेसे यह अच्छी तरहसे विश्वास हो जाता है कि, उन्होंने पहले संसारका भली भांति अनुभव कर लिया होगा। इस तरहसे सुभाषितकी रचनाके समय उनकी अवस्था बहुत कम होगी, तो २९—३० वर्षकी होगी अर्थात् उनका जन्म विक्रमसंवत् १०२९ के लगभग हुआ होगा। महाराज मुंज उस समय या तो राज्यारूढ़ होंगे, अथवा युवराज होंगे। धर्मपरीक्षा बना चुकनेके पश्चात्, आचार्य महाराजने संसारका और कब तक हितसाधन किया, यह उनके अन्यग्रन्थोंसे अथवा उनकी शिष्यपरंपराके ग्रन्थोंसे जाना जा सकता है। परन्तु खेद है कि, इस समय हमारे पास उक्त दोनों ही साधन नहीं है। धर्मपरीक्षा और सुभाषितके सिवाय **श्रावकाचार** नामका एक ग्रन्थ और भी प्राप्त है, परन्तु उसमें समयका उल्लेख बिलकुल नहीं है। नहीं कह सकते हैं कि, वह उक्त दो ग्रन्थोंसे पहलेका बना हुआ है, अथवा पीछेका। शेठ **हीराचंदजीने** रत्नकरंडश्रावकाचारकी भूमिकामें उसके बननेका समय वि० संवत् १०५० लिखा है; परन्तु वह अनमानसे

लिखा हुआ जान पड़ता है। उसे ग्रन्थ बननेका समय नहीं, किन्तु आचार्यके विद्यमान होनेका समय समझना चाहिये। शेठजीका भी शायद उसके लिखनेमें यही अभिप्राय होगा।

आचार्यवर्य अमितगति बड़े भारी विद्वान् और कवि थे। उनकी असाधारण विद्वत्ताका परिचय पानेके लिये उनके ग्रन्थोंका भलीभांति मनन करना चाहिये। उनकी रचना सरल और सुखसाध्य होनेपर भी बड़ी गंभीर और मधुर है। संस्कृत भाषापर उनका अच्छा अधिकार था। उन्होंने अपने धर्मपरीक्षा नामके ग्रन्थको जिसे वांचकर लोग मुग्ध हो जाते हैं, केवल दो महीनेमें रचके तयार किया था। यथाः—

> अमितगतिरिवेदं स्वस्यमासद्वयेन
> प्रथितविशदकीर्तिः काव्यमुद्भूतदोषम्।

धर्मपरीक्षामें कुल श्लोक १९४९ हैं। इतने बड़े उत्तम ग्रन्थको दो महीनेमें रच डालना, सचमुच ही विलक्षण पांडित्यका काम है।

संस्कृत-साहित्यमें धर्मपरीक्षा अपने ढंगका एक विलक्षण ही ग्रन्थ है। दूसरे धर्मोंका एक मनोरंजक कथामें हास्य विनोदके साथ खंडन करनेवाला और अपने धर्मका मंडन करनेवाला शायद ही कोई ग्रन्थ इस श्रेणीका हो। इसके पढनेसे यह भी मालूम होता है कि अन्यमतके रामायण महाभारतादि ग्रन्थोंका भी उन्हें पूर्ण परिचय था। क्योंकि उक्त ग्रन्थोंके असंबद्ध लेखोंकी ही इसमें परीक्षा की गई है। वर्तमानके उपन्यास ग्रन्थोंके पढनेमें जैसा चित्त लगता है, और फिर छोड़नेको जी नहीं चाहता है, ठीक वही दशा इस ग्रन्थको हाथमें

लेनेसे होती है । अन्तर केवल इतना है कि, उपन्यासोंसे थोड़े समयके लिये मनोरंजन मात्र होता है, और इसके पढ़नेसे धर्ममें दृढ़ता होनेके सिवाय वहुज्ञता प्राप्त होती है । अर्थान्तर—न्यासोंकी और नीतिके खंडश्लोकोंकी इस ग्रन्थमें इतनी अधिकता है कि, यदि कोई उनको अलग चुनकर प्रकाशित करे, तो एक उत्तम पोथी बन सकती है; जिसे धर्मी विधर्मी सब ही विद्वान आदरपूर्वक ग्रहण कर सकते हैं।

धर्मपरीक्षा ग्रन्थ कैसा है, इसके लिये हम अधिक कुछ न लिखकर अपने पाठकोंसे उसके एक वार स्वाध्याय करनेका आग्रह करते हैं । यदि श्रीअमितगति महाराजने केवल धर्मपरीक्षा ही रची होती अन्य ग्रन्थ न रचे होते; तो यही एक उनके असाधारण पांडित्यको प्रगट करनेके लिये बस थी ।

धर्मपरीक्षाके[1] अतिरिक्त अमितगतिके बनाये हुए निम्नलिखित ग्रन्थोंका और भी उल्लेख मिलता है ।

१ सुभाषितरत्नसंदोह ।
२ श्रावकाचार ।
३ भावनाद्वात्रिंशति ।
४ पंचसंग्रह ।
५ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति ।
६ चन्द्रप्रज्ञप्ति ।
७ सार्द्धद्वयद्वीपप्रज्ञप्ति ।
८ व्याख्याप्रज्ञप्ति ।
९ योगसारप्राभृत ।

---

१. धर्मपरीक्षा मूल और भाषासहित छप चुकी है । इसकी दो तीन भाषाटीकायें और भी हैं, जो अभीतक प्रकाश नहीं हुई हैं ।

इनमेंसे धर्मपरीक्षा और सुभाषितरत्नसंदोह ये दो ग्रन्थ तो छपकर प्रकाशित हो चुके हैं और तीसरा श्रावकाचार अनेक स्थानोंमें मिलता है। चौथा पंचसंग्रह और पांचवां योगसार प्राभृत ये दोनों ग्रन्थ ईडरके भंडारमें हैं। छट्ठा 'भावना द्वात्रिंशति' श्रीयुक्त ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजीकृत हिन्दी अर्थसहित सामायिकपाठके नामसे छप चुका है। परन्तु शेषके ४ ग्रन्थ अभीतक कहीं प्राप्त नहीं हुए हैं। इन ग्रन्थोंके नाम देखनेसे यह भी विदित होता है कि अमितगति महाराज प्रथमानुयोग चरणानुयोगके समान करणानुयोग और द्रव्यानुयोगके भी असाधारण पंडित थे।

अमितगतिका दूसरा उपलब्ध ग्रन्थ **सुभाषितरत्नसंदोह** है। इसमें सांसारिकविषयनिराकरण, मायाहंकारनिराकरण, इन्द्रियनिग्रहोपदेश, स्त्रीगुणदोषविचार, देवनिरूपण आदि बत्तीस प्रकरण हैं और प्रत्येक विषयके बीस २ पचीस २ सुभाषितश्लोक हैं। सरल संस्कृतमें प्रत्येक विषयका बड़ी सुन्दरतासे निरूपण किया गया है। यह सबका सब ग्रन्थ कंठ करने लायक है। ग्रन्थके अन्तमें ११७ श्लोकोंमें श्रावकधर्मनिरूपण नामका प्रकरण बहुत ही अच्छा है। यदि वह हिन्दी

---

१. सुभाषितरत्नसंदोह **निर्णयसागर**की काव्यमालामें छप चुका है। इसकी संघी पन्नालालजीकी बनाई हुई एक भाषाटीका भी है, जो जयपुरमें हस्तलिखित मिल सकती है। २. अमितगतिश्रावकाचारकी पंडितवर्य **भागचन्द्रकृत** भाषाटीका अभीतक छपी नहीं है।

टीकासहित पृथक् प्रकाशित किया जावे, तो एक छोटासा श्रावकाचार बन सकता है। और श्रावकधर्मका संक्षेपमें परिचय चाहनेवालोंको उपयोगी हो सकता है। यहांपर सुभाषितके दश वीस चुने हुए श्लोक उद्धृत करनेकी इच्छा थी, परन्तु स्थानाभावसे इस विचारको छोड़ना पड़ा।

तीसरा ग्रन्थ श्रावकाचार इस समय हमारे समक्ष उपस्थित नहीं है, परन्तु उसका विषय बतलानेकी पाठकोंको अवश्यकता नहीं है। १३५२ श्लोकोंमें बहुत उत्तमताके साथ श्रावकाचारका स्वरूप बतलाया गया है। प्रचलित श्रावकाचारोंसे यह बहुत ही बड़ा है।

चौथा ग्रन्थ योगसारप्राभृत है। इसका दूसरा नाम अध्यात्म तरंगिणी भी है। इसमें ५५० के करीब अनुष्टुप् श्लोक हैं। जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, चारित्र, और उपसंहार इस प्रकार नौ अध्याय हैं और प्रायः प्रत्येक अध्यायमें पचास २ श्लोक हैं। अन्तके दो अध्यायोंमें सौ सौके अनुमान श्लोक हैं। विषय नामहीसे प्रगट है। योगियोंको उपर्युक्त विषयोंका ध्यानावस्थामें किस प्रकार चिन्तवन करना चाहिये, बहुत सरल शब्दोंमें इसीका उपदेश दिया गया है। जो प्रति हमारे देखनेमें आई वह संवत् १५५२ की लिखी हुई है और प्रायः शुद्ध है। उसमें आदिके १०–१२ श्लोक नहीं हैं। एक पत्रका अभाव है। ग्रन्थके अन्तमें ग्रन्थ लिखानेवालोंकी तो बड़ी लम्बी चौड़ी प्रशास्ति लिखी है, परन्तु

---

१. धर्मपरीक्षाके पिछले दो परिच्छेदोंमें भी श्रावकाचारका विषय बहुत उत्तमताके साथ कहा है। उसके २०० के करीब अनुष्टुप् श्लोक हैं।

ग्रन्थकर्ताके विषयमें विशेष कुछ भी नहीं लिखा है। जो कुछ लिखा है, उससे केवल नामका पता लगता है;—

दृष्ट्वा सर्वं गगननगरस्वप्नमायोपमानम्
निःसङ्गात्मामितगतिरिदं प्राभृतं योगसारम् ।
ब्रह्मप्राप्त्या परममकृतं स्वेषु चात्मप्रतिष्ठम्
नित्यानन्दं गलितकलिलं सूक्ष्ममत्यक्षलक्ष्यम् ॥ १ ॥
योगसारमिदमेकमानसः प्राभृतं पठति योऽभिमानतः ।
स्वस्वरूपमुपलक्ष्य सोऽचितः सम्प्रयाति भवदोषवञ्चितम् ॥२॥

इति श्रीअमितगतिवीतरागविरचितायामध्यात्मतरंगिण्यां नवमोऽधिकारः ।

इसका सारांश यह है कि सम्पूर्ण संसारको आकाश नगरके समान स्वप्नकी माया समझकर श्रीअमितगति नामक निर्ग्रन्थ मुनिने ब्रह्मकी प्राप्तिके लिये यह नित्यानन्दस्वरूप, पापरहित, सूक्ष्म, अतीन्द्रियगोचर, योगसार नामका ग्रन्थ बनाया। जो लोग इसे एकचित्त होकर सन्मानपूर्वक पढ़ेंगे, वे अपने स्वरूपको पाकर संसारके पापोंसे मुक्त हो जावेंगे।

यह ग्रन्थ हमको केवल एक घंटे तक देखनेका अवसर मिला, इसलिये हम इसे अच्छी तरहसे नहीं देख सके तो भी जितने श्लोक पढ़े वे बहुत ही उत्तम और हृदयग्राही मालूम हुए। अमितगतिके ग्रन्थोंमें यह बड़ी खूबी है कि वे कठिन नहीं हैं। सरल भाषामें ही उन्होंने अच्छे २ गंभीर विषय कहे हैं।

इस ग्रन्थमें अध्यात्मकी ओर विशेष झुकाव दिखता है इससे तथा अपने नामके साथ जो वीतराग विशेषण दिया है, इससे अनुमान होता है कि यह ग्रन्थ पहले ग्रन्थोंके बहुत पीछे बना होगा।

पांचवां ग्रन्थ पंचसंग्रह है। इसकी एक प्रति ईडरके ग्रन्थसंग्रहालयमें संवत् १५३४ की लिखी हुई है। हमको उसकी प्रशस्ति मात्र प्राप्त हुई है। वह इस प्रकार है.—

श्रीमाथुराणामनघद्युतीनां संघोऽभवद्वृत्तिविभूषितानाम्
हारोमणीनामिव तापहारी सूत्रानुसारी शशिरश्मिशुभ्रः ॥१॥
माधवसेन गणी गणनीयः शुद्धतमोऽजानि तत्र जनीयः।
भूयसि सत्यवतीव शशांकः श्रीमति सिन्धुपतावकलंकः ॥ २ ॥
शिष्यस्तस्य महात्मनोऽमितगतिर्मोक्षार्थिनामग्रणि—
रेतच्छास्त्रमशेषकर्म्मसमितिप्रख्यापनायाकृत।
वीरस्येव जिनेश्वरस्य गणभृद्व (न्यात्मनां) व्यापको—
दुर्वारस्मरदन्तिदारुणहरिः श्रीगौतमः सत्तमः ॥ ३ ॥
यदत्र सिद्धान्तविरोधि वद्धं ग्राह्यं निराकृत्य तदेतदार्यैः।
गृण्हन्ति लोका ह्युपकारि यत्नात्त्वचं निराकृत्य फलं विनम्रं॥

१. इस श्लोकमें माथुर संघको मणियोंके हारकी उपमा दी है और उसे दोनों पक्षमें घटित की है। पापरहित प्रकाशवाले (निर्मल कान्तिवाले) वृतों करके शोभायमान (वृत्तरूप अर्थात् गोलमणियोंसे शोभायमान) तापको हरन करनेवाला, सूत्र अर्थात् सिद्धान्त वचनोंका अनुसरण करनेवाला (सूत्र अर्थात सूतमें पोया हुआ) और चन्द्रमाकी किरणोंके समान उज्वल माथुरसंघ मणियोंके हारकी समान उत्पन्न हुआ।

अनीश्वरी केवलमर्चनीयं (यावच्चिरं) तिष्ठति मुक्तिशुक्तौ
तावद्धरायामिदमत्र शास्त्रं स्तुयाच्छुभं कर्मनिराशकारि ॥ ५ ॥[1]

इत्यमितगतिकृतः पञ्चसंग्रहः समाप्तः ।

इसका सारांश यह है कि जिस समय महाराजा सिन्धुपति (भोजके पिता) पृथ्वीका पालन करते थे, उस समय कीर्तिशाली माथुरसंघमें एक माधवसेन नामके आचार्य हुए जिनके गौतमगणधरके समान विद्वान् शिष्य अमितगतिने यह पंचसंग्रह ग्रन्थ सम्पूर्ण कर्मसमितियोंकी प्रख्यापनाके लिये बनाया। इसमें यदि कोई बात शास्त्रविरुद्ध हो, तो उसका निराकरण करके सार ग्रहण करना चाहिये, जैसे छिलके निकाल करके लोग उपकारी फलको काममें लाते हैं।

इस प्रशस्तिमें ग्रन्थके बनानेका समय नहीं लिखा है, परन्तु दानवीरशेठ माणिकचन्दजीके यहां जो प्रशस्तिसंग्रह पुस्तक है, उसमें इसके बननेका समय संवत् १०७३ लिखा हुआ है, जिससे मालूम होता है कि प्रशस्तिका एकाध श्लोक जिसमें संवत्का उल्लेख होगा, छूट गया है। यदि यह संवत् ठीक है और ठीक ही होना संभव है तो कहना चाहिये कि पंचसंग्रहकी रचना धर्मपरीक्षासे ३ वर्ष पीछे हुई है।

इस प्रशस्तिसे यह भी मालूम होता है कि, ग्रन्थकर्त्ताके गुरुवर्य श्रीमाधवसेनसूरि महाराजाधिराज भोजके पिता तथा मुंजके

---

१. इस श्लोकके पूर्वार्द्धका भाव समझमें नहीं आया।

भाई सिंधुपतिके समयमें जिन्हें सिन्धुल सिन्धल सिन्धुराज कुमारनारायण और नवसाहसांक भी कहते हैं, हुए थे । सिन्धुल बड़े प्रतापशाली राजा थे। भक्तामरचरित्रमें इनकी वीरताकी बहुत कुछ प्रशंसा लिखी है। ये परमारवंशके मुकुटमणि थे। म्लेच्छ राजाओंपर इन्होंने विजयश्री प्राप्त की थी। डॉक्टर बुल्हरने एपिग्राफिया इंडिकाकी पहली जिल्दके २२६—२२८ पृष्ठमें जो प्रशस्तिलेख प्रकाशित किया है, उसमें लिखा है;—

तस्यानुजो निर्जितहूणराजः श्रीसिन्धुराजो विजयार्जितश्रीः ।
श्रीभोजराजोऽजनि येन रत्नं नरोत्तमाकम्पकृदद्वितीयम् ॥१॥

पंचसंग्रहकी प्रशस्तिसे यह भी मालूम पड़ता है कि सिन्धुराजने मुंजके पहले कुछ समय तक उज्जयनीका राज्य किया है, क्योंकि इसमें जो "अवति सति" पद दिया है, उससे सिंधुलमहाराजके राज्य करनेमें कोई संदेह नहीं रहता है। तब अनेक ग्रन्थों और शिलालेखोंमें

---

१. अनेक लोगोंका ऐसा मत है कि मुंज भोजके पितामह थे, परन्तु जैनग्रन्थोंसे यह बात सिद्ध हो चुकी है कि मुंज भोजके पितृव्य और सिंधुराजके भाई थे। कई कथाग्रन्थोंमें लिखा है की सिंधुलके पिताके सन्तान नहीं होती थी, इसी लिये उन्होंने पहले एक मुंजके खेतमें पड़े हुए नवजात बालकको पालकर उसका नाम मुंज रक्खा था। उसके थोड़े ही दिन पीछे उनके सिंधुलका जन्म हुआ था। मुंज बुद्धिशाली था, और उसपर राजाका प्यार अधिक था, इसलिये उन्होंने उसीको राजकार्य सौंप दिया। पीछे पिताके मर जानेपर सिंधुलके पराक्रमको देख मुंजको ईर्षा उत्पन्न हुई। इसलिये उन्होंने उसे देशसे निकाल दिया था और दूसरी बार लौटकर आनेपर नेत्र फोड़ दिये थे। अंधावस्थामें उनके भोजदेवने जन्म लिया था। परन्तु इतिहाससे इस कथाकी कई बातोंमें विरोध पड़ता है।

मुंजके पश्चात् सिंधुलका नाम मिलता है, वह इस अभिप्रायसे है कि मुंजने अपने जीतेजी अपने छोटेभाई सिन्धु राजके पुत्र भोजको अपना उत्तराधिकारी नियतकर दिया था; परन्तु उसके मारे जानेके समय भोजकी वाल्यावस्थाके कारण उसका पिता सिंधुल राज्यकार्य करता था । इसके पीछे भोजको राज्य मिला था । अमितगतिने संवत् १०५०में सुभाषितरत्नसंदोह वनाते समय मुंजका राज्यकाल वतलाया है और अपने गुरुके समयमें सिंधुल महाराजका राज्य वतलाया है। इससे यह निश्चय होता है कि, मुंजके पहले भी सिंधुल राज्य कर चुके थे और उनके पीछे भी उनका राजा होना सिद्ध होता है ।

इस प्रशस्तिसे कुछ कुछ आभास इस वातका भी होता है कि सुभाषितरत्नसंदोहके रचनाकालमें अमितगतिको आचार्यपद मिल गया होगा । क्योंकि माधवसेनका स्वर्गवास सिंधुमहाराजके समयमें ही हो गया होगा । यदि ऐसा न होता तो पंचसंग्रहकी प्रशस्तिमें जो कि १०७३ संवत्के लगभग लिखी गई है अमितगति महाराज सिंधुलके साथ मुंजका नाम भी लिखते ।

श्रीविश्वभूषणकृत भक्तामरचरित्रमें लिखा है कि सिंधुल और मुंज दोनोंको उनके पिता राज्यकार्य सौंप गये थे। अर्थात् उनके मतसे वे दोनों ही एक साथ राज्य करते थे ।

अथवा यदि माधवसेन मुंजके राज्यकालतक रहते, तो उनके समयके अन्तिम राजा मुंजका ही नाम लिखा जाता । अभिप्राय यह

है कि मुंजके राज्यकालके प्रारंभमें ही अमितगति आचार्यवर्यसे भूषित हो गये थे।

छट्ठे ग्रन्थ भावना द्वात्रिंशतिमें केवल ३२ श्लोक हैं। यह ग्रन्थ बहुतही शान्तिरस उत्पादक है। कविता बहुत ही मधुर और कोमल है।

अमितगतिके इन छह ही ग्रन्थोंके विषयमें हमें थोड़ा बहुत परिचय है। शेष ग्रन्थोंके विषयमें हम कुछ भी नहीं जानते हैं।

गुजराती साहित्यपरिषद्की रिपोर्टमें हमने अमितगतिके एक प्राकृत ग्रन्थका भी उल्लेख पढ़ा था, जो कि गुजरातके किसी भंडारमें है; परन्तु अभी तक हमें वह देखनेको प्राप्त नहीं हुआ। इससे मालूम होता है कि, अमितगति संस्कृतके समान प्राकृतके भी विद्वान् थे।

यशस्तिलकचम्पू ग्रन्थकी रचना विक्रमसंवत् १०१६ (शक संवत ८८१) में हुई है और उसके पीछे भी महाकवि श्रीसोमदेवसूरिने नीतिवाक्यामृत, षण्णवतिप्रकरण, युक्तिचिन्तामणि आदि बहुतसे ग्रन्थोंकी रचना की है, जिससे मालूम पड़ता है कि, वे अमितगतिके समकालिक अथवा कुछ ही समय पहलेके विद्वान् थे। आज कल यह बात असंभव सी मालूम होती है कि ऐसे धुरंधर विद्वानोंका एक दूसरेसे परिचय न होगा अथवा दूसरेने पहलेकी कीर्ति न सुनी होगी। परन्तु खेद है कि अपने किसी भी ग्रन्थमें अमितगतिने सोमदेवसूरिका उल्लेख नहीं किया है। इतना ही क्यों अमितगतिसे कुछ ही समय पीछे ज्ञानार्णव (योगशास्त्र) के कर्ता श्रीशुभचन्द्राचार्य

और कुछ ही समय पहले भगवाज्जिनसेन तथा गुणभद्रसूरि जैसे विद्वान् हो गये हैं, परन्तु किसीने भी एक दूसरेका उल्लेख नहीं किया है।

पाठकोंको मालूम होगा कि, शुभचन्द्राचार्य धाराधीश भोजके समयमें हुए हैं, जो कि वि० सं० १०७८ में राज्यके अधिकारी हुए थे तथा भगवद्गुणभद्रसूरिने उत्तरपुराण वि० संवत् ९५५ में पूर्ण किया था। पूर्वके विद्वानोंके ग्रन्थोंमें परस्परका उल्लेख न रहनेका कारण एक तो यह प्रतीत होता है कि देशभेदके कारण उनका साक्षात् प्रायः बहुत कम होता था, दूसरे उनकी कीर्तिके कारणभूत ग्रन्थोंका प्रचार दूर देशोंमें तत्काल न हो सकनेसे वे अपनी जीवितावस्थामें प्रसिद्ध भी नहीं हो पाते थे। इसके सिवाय ग्रन्थोंकी प्रशस्तियोंमें वे अपना और अपनी थोड़ीसी गुरुपरम्पराका परिचय मात्र देना बस समझते थे। आजकलके पुस्तक बनानेवालोंके समान आडम्बर बनाना उन्हें नहीं आता था। कीर्तिकी उन्हें आकांक्षा भी नहीं थी। हमारे यहां ऐसे सैकड़ों बड़े २ ग्रन्थ हैं, जिनके कर्त्ताओंका कुछ भी पता नहीं है।

श्रीअमितगतिमुनिका गृहस्थावस्थाका क्या नाम था, वे किस कुलमें तथा किस नगरमें उत्पन्न हुए थे, इन बातोंका कुछ भी पता नहीं लगता है, परंतु उनके ग्रन्थोंसे उनके मुनिकुलका भली भांति परिचय मिल जाता है, यह एक संतोषकी बात है। अपने कई

---

१. बहुत लोगोंका ख़याल है कि मुंजकी राजधानी धारा नगरी थी, परन्तु यह केवल भ्रम है। मुंजकी राजधानी उज्जैनमें थी और भोजकी धारामें।

२. उत्तरपुराण बननेके कुछ ही वर्ष पहले भगवज्जिनसेन विद्यमान थे।

ग्रन्थोंमें उन्होंने अपनी गुरुपरम्पराका उल्लेख किया है। जिसमेंसे यहां हम धर्मपरीक्षाकी प्रशस्तिके कुछ श्लोक उद्धृत करते हैं,—

सिद्धान्तपाथोनिधिपारगामी
श्रीवीरसेनोऽजनि सूरिवर्य्यः।
श्रीमाथुराणां यमिनां वरिष्ठः
कषायविध्वंसविधौ पटिष्ठः ॥ १ ॥

ध्वस्ताशेषध्वान्तवृत्तिर्मनस्वी
तस्मात्सूरिर्देवसेनोऽजनिष्ट।
लोकोद्योती पूर्वशैलादिवार्कः
शिष्टाभीष्टः स्थेयसोऽपास्तदोषः ॥ २ ॥

भासिताखिलपदार्थसमूहो
निर्मलोऽमितगतिर्गणनाथः।
वासरो–दिनमणेरिव तस्मा—
ज्जायतेस्म कमलाकरबोधी ॥ ३ ॥

नेमिषेणगणनायकस्ततः
पावनं वृषमधिष्ठितो विभुः।
पार्वतीपतिरिवास्तमन्मथो
योगगोपनपरो गणार्चितः ॥ ४ ॥

कोपनिवारी शमदमधारी माधवसेनः प्रणतरसेनः।
सोऽभवदस्माद्गलितमदोस्मा यो यतिसारः प्रशमितसारः ॥
धर्मपरीक्षामकृत वरेण्यां धर्मपरीक्षामखिलशरण्याम्
शिष्टवरिष्ठोऽमितगतिनामा तस्य पटिष्ठोऽनघगतिधामा।

इसका सारांश यह है कि माथुरसंघके मुनियोंमें श्रीवीरसेन नामके एक श्रेष्ठ आचार्य हुए और उनके शिष्योंमें क्रमसे देवसेन, अमितगति (प्रथम) नेमिषेण, और माधवसेन नामके मुनि हुए। अमितगति इन्हीं माधवसेनके शिष्य थे।

अमितगतिने अपने जिन पूर्व गुरुओंका उल्लेख किया है, उनमेंसे जहांतक हम जानते हैं, किसीका भी कोई ग्रन्थ अभीतक प्रसिद्धमें नहीं है और न कहींकी रिपोर्टोंमें उनका कोई पता लगता है।

जिस माथुरसंघमें अमितगतिका अवतार हुआ था, अभीतक हम उससे वहुत कम परिचित हैं। हमारे मूलसंघके[1] जो नंदि, सिंह, सेन और देव[2] ये चार भेद हैं, उनमें माथुरसंघ नहीं है। तब क्या यह इनसे पृथक् कोई पांचवां संघ है, अथवा इन्हींमेंसे किसी एकका नामान्तर है? यह एक प्रश्न उपस्थित होता है।

माथुरसंघ और काष्ठासंघ।

माथुरसंघ काष्ठासंघका ही अन्तर्भेद है। काष्ठासंघकी पट्टावलीमें जो कि, श्रीसुरेन्द्रकीर्ति आचार्यकी वनाई हुई है, लिखा है कि—

काष्ठासंघो भुवि ख्यातो जानन्ति नृसुरासुराः।
तत्र गच्छाश्च चत्वारो राजन्ते विश्रुताः क्षितौ ॥ १ ॥

---

१. मूल संघमें जो अनेक भेद हैं, उनमें शास्त्रविषयक तथा आचार विषयक किसी प्रकारका मतभेद नहीं हैं। केवल संघव्यवस्थाके लिये इनकी स्थापना हुई थी।

२. कहीं २ देवसंघ नहीं कहकर वृषभसंघ कहा है। जान पड़ता है, यह देवसंघका ही नामान्तर होगा।

श्रीनन्दितटसंज्ञश्च माथुरो वागडाभिधः ।
लाडवागड इत्येते विख्याताः क्षितिमण्डले ॥ २ ॥

अर्थात् काष्ठासंघमें नन्दितट, माथुर, वागड, लाडवागड ये चार गच्छ हैं। माथुरगच्छको माथुरसंघ लिखनेकी भी परिपाटी है। जैसे मूलसंघको भी संघ कहते हैं और उसके नंदि देव आदि चार भेदोंको भी संघ कहते हैं, उसी प्रकारसे यह भी है।

अमितगति काष्ठासंघी ही थे, इसका भी एक प्रमाण मिला है। श्रीभूषणसूरिकृत प्रतिवोधचिन्तामणि ग्रन्थके प्रारंभमें जो आचार्य परम्पराका वर्णन है, उसमें लिखा है:—

भानुभूवलये कम्रो काष्ठासघाम्वरे रविः ।
अमितादिगतिः शुद्धः शव्दव्याकरणार्णवः ॥

इस श्लोकके अन्तिम चरणसे ऐसा जान पड़ता है कि शायद अमितगतिने कोई व्याकरणका ग्रन्थ भी वनाया होगा अथवा उनकी व्याकरणविद्यामें वहुत ख्याति होगी।

काष्ठासंघकी उत्पत्ति।

काष्ठासंघको हमारे यहां जैनाभास माना है, इसवातका तथा उसकी

---

१. दिल्लीमें जो भट्टारककी गद्दी थी और पं० शिवचंद्रजी जिस गद्दीके शिष्य थे, सुनते हैं वह माथुर गच्छकी थी। २. लाडवागड गच्छकी गद्दी सुनते हैं कारंजा (अमरावती) में है। ३. उक्तं च इन्द्रनन्दिकृत नीतिसारे—

गोपुच्छकः श्वेतवासा द्राविडो यापनीयकः ।
निःपिच्छिकश्चेति पञ्चैते जैनाभासाः प्रकीर्तिताः ।

अर्थात् गोपुच्छक (काष्ठासंघ) श्वेताम्बर, द्राविडीय, यापनीय और निःपिच्छिक ये पांच जैनाभास कहे गये हैं।

उत्पत्तिका वृत्तान्त भी हमको श्रीदेवसेनसूरिके दर्शनसार[1] ग्रन्थसे मालूम हुआ है। वह इस प्रकार है:—

सिरि वीरसेणसिस्सो जिणसेणो सयलसत्थविण्णाणी।
सिरि पउमणंदि पच्छा चउसंघसमुद्धरणधीरो॥ ३१॥
तस्स य सिस्सो गुणवं गुणभद्दो दिव्वणाणपरिपुण्णो।
पक्खोववासमंडी महातवो भावलिंगो य॥ ३२॥
तेण पुणो विय मुच्चं णेऊण मुणिस्स विणयसेणस्स।
सिद्धंतं घोसित्ता सयं गयं सग्गलोयस्स॥ ३३॥
आसी कुमारसेणो णंदियडे विणयसेण दिक्खयओ।
सण्णासभंजणेण य अगंहियपुणदिक्खओ जाओ॥ ३४॥
परिवज्जऊण पिच्छं चमरं णेऊण मोहकलिदेण।
उम्मग्गं संकलियं वागडविसएसु सव्वेसु॥ ३५॥
इत्थीणं पुणदिक्खा खुल्लयलोयस्स वीरचरियत्तं।
कक्कसकेसग्गहणं छट्ठं च गुणव्वदं णाम॥ ३६॥
आयमसत्थपुराणं पायच्छित्तं च अण्णहा किंपि।
विरइत्ता मिच्छत्तं पवट्टियं मूढलोयेसु॥ ३७॥
सो सवणसंघवज्झो कुमारसेणो हु समयमिच्छत्तो।
चत्तोवसमो रुद्दो कट्ठसंघं परूवेदि॥ ३८॥

---

१. श्रीदेवसेनसूरिने दर्शनसार ग्रन्थ विक्रमसंवत् ९०९ में धारा नगरीके पार्श्वनाथ चैत्यालयमें बनाया था, ऐसा उसकी प्रशस्तिसे विदित होता है। अर्थात् काष्ठासंघकी उत्पत्तिके केवल १५० वर्ष पीछे इस ग्रन्थकी रचना हुई थी।

सत्तसए तेवण्णे विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स ।
नंदियडे वरगामे कट्ठोसंघो मुणेयव्वो ॥ ३९ ॥
नंदियडे वरगामे कुमारसेणो य सत्थविणाणी ।
कट्ठो दंसणभट्ठो जादो सल्लेहणाकाले ॥ ४० ॥

अर्थात्—श्रीवीरसेनके शिष्य भगवज्जिनसेन जो कि सम्पूर्ण तत्त्वोंके ज्ञाता थे, श्रीपद्मनंदिके पश्चात् चारों संघके स्वामी आचार्य हुए। फिर इनके गुणभद्र नामके शिष्य हुए, जो दिव्यज्ञानपरिपूर्ण पक्षोपवास करनेवाले थे। इन्होंने श्रीविनयसेन मुनिकी मृत्यु होनेपर सिद्धांत शास्त्रोंका उपदेश किया और पीछे वे भी स्वर्ग लोकको सिधारे अर्थात् श्रीविनयसेनके पश्चात् गुणभद्र आचार्य हुए। विनयसेनका एक कुमारसेन नामका शिष्य हुआ। उसने एक वार सन्यास भंग करके फिर दीक्षा नहीं ली और मयूरपिच्छी छोड़कर गोपुच्छकी पिच्छी ग्रहण कर ली। तथा सम्पूर्ण वागड़ देशमें उन्मार्गकी प्रवृत्ति की। उसने स्त्रियोंको मुनिदीक्षा देनेकी, क्षुल्लक लोगोंको वीरचर्या करनेकी, अर्थात् मुनियोंके समान आतापन-योगादि धारण करनेकी और कठोरकेशोंकी पिच्छी (गोपुच्छ)

---

१. श्रीवीरसेनके पश्चात् पट्टके आचार्य श्रीपद्मनन्दि हुए होंगे और उनके पश्चात् वीरसेनके शिष्य जिनसेन हुए होंगे।

२. विनयसेनमुनि जिनसेनके सतीर्थ (एक गुरुके शिष्य) थे, ऐसा पार्श्वाभ्युदय काव्यकी प्रशस्तिसे जान पड़ता है। यथा,—

श्रीवीरसेनमुनिपादपयोजभृङ्गः श्रीमानभूद्विनयसेनमुनिर्गरीयान् ।
तच्चोदितेन जिनसेनमुनीश्वरेण काव्यं व्यधायि परिवेष्टितमेघदूतम् ॥ १ ॥

रखनेकी विधिका निरूपण किया। इसके सिवाय उसने छट्ठे गुण-स्थानका कुछ और ही स्वरूप निरूपण किया। इसी प्रकार आगम शास्त्र पुराणों और प्रायश्चित्तका कुछ अन्यथा ही निरूपण कर मूढ लोगोंमें एक मिथ्यात्वकी प्रवृत्ति कर दी। इस तरह उस श्रमण-संघसे (दिगम्बरसंघसे) बाहर किये हुए, समयमिथ्यादृष्टी, उपशामको छोड़ देनेवाले रौद्र कुमारसेनने काष्ठासंघकी जड़ जमाई। यह काष्ठासंघ विक्रम राजाकी मृत्युके ७५३ वर्ष पश्चात् नन्दीतट नगरमें उत्पन्न हुआ।

जयपुरनिवासी पंडित जवाहरलालजी साहित्यशास्त्रीके पत्रसे विदित हुआ कि, बुलाकीचन्द्रकृत वचनकोशमें—जो कि संवत् १७३७ में बना है—काष्ठासंघकी उत्पत्तिके विषयमें एक दूसरे ही प्रकारकी कथा लिखी है। वह इस प्रकार है कि, "उमास्वामीके पट्टपर जो श्रीलोहाचार्यजी विराजमान हुए, उनके शरीरमें एक बार असाध्यरोग हो गया। उससे मुक्त होनेकी आशा न समझकर अन्य आचार्योंने उन्हें अन्तःसन्यास धारण कराके चारों प्रकारके आहारका त्याग करा दिया। परन्तु दैवात्, उनका रोग धीरे २ शमन होने लगा, और अन्तमें वे

---

१. दर्शनसारकी जो हमारे पास प्रति है, उसकी टिप्पणीमें लिखा है, कि रात्रिभोजनत्यागको छट्ठा गुणव्रत माना; परन्तु यह ठीक नहीं है। धर्मपरीक्षामें पांच अणुव्रत और तीन गुणव्रत मूलसंघके समान ही माने हैं छह गुणव्रत नहीं माने हैं। किसी २ प्रतिमें गुणद्दं लिखा है, जिसका अर्थ गुणस्थान होता है। शायद काष्ठासंघमें क्षुल्लकों और दीक्षित स्त्रियोंको छट्ठा गुणस्थान माना हो।

सर्वथा नीरोग होगये । उस समय उन्होंने क्षुधातुर होकर अन्नपान ग्रहण करनेकी आज्ञा मांगी, परन्तु दूसरे आचार्योंने उन्हें ऐसा करनेकी आज्ञा नहीं दी—समाधिमरण करनेकी ही विधि बतलाई । लोहाचार्य क्षुधावेदनाको सहन नहीं कर सके, इसलिये वे आचार्योंकी आज्ञा पालन करनेमें समर्थ न हुए । उन्होंने अन्नपान ग्रहण कर लिया । इस अपराधमें वे संघसे बाहर कर दिये गये और उनके पट्टपर अन्य किसी आचार्यकी स्थापना हो गई । लोहाचार्यजी संघसे निकलकर अगरोहा नगर आये जहांपर अगरवालोंकी बहुत बड़ी बस्ती थी । यद्यपि वे सब अन्यमतावलम्बी थे, परन्तु उन दिनों लोहाचार्यका बहुत बड़ा प्रभाव था इसलिये उनका आगमन सुनकर अगरवालोंने भोजनके लिये प्रार्थना की । परन्तु लोहाचार्यने कहा कि हम मिथ्यादृष्टियोंके घर आहार नहीं कर सकते हैं । यदि तुम लोग जैनधर्म ग्रहण करना स्वीकार करो, तो हम भोजन कर सकते हैं । उनकी विद्वत्ता और तपस्याका अगरवालोंपर इतना प्रभाव पड़ा कि वे लोग जैनधर्मको ग्रहण करना अस्वीकार न कर सके । कोई ७०० अग्रवालोंने जैनधर्म स्वीकार कर लिया, और लोहाचार्यजीको खूब उत्सवके साथ नगरमें ले जा कर भोजन कराया । पीछे वहां जैनमन्दिर बनवाया गया और तत्काल पाषाणकी प्रतिमा न मिल सकनेके कारण उसमें काष्ठकी प्रतिमा स्थापित कराई गई । यह बात जब मूलसंघके आचार्योंने सुनी, तब उन्होंने मिथ्यातियोंको जैन बनानेके उपलक्षमें तो लोहाचार्यकी बहुत प्रशंसा की परन्तु काष्ठकी

प्रतिमाके लिये निषेध किया। किन्तु लोहाचार्यने यह भी नहीं माना। इसके सिवाय गायकी पूंछकी पिच्छी लेनेकी भी उन्होंने पद्धति चला दी और इन सबका प्रायश्चित् लेनेको भी वे स्वीकृत न हुए। उन्होंने एक स्वतंत्ररूपसे अपने संघकी स्थापना की, जो कि पीछेसे काष्ठासंघके नामसे प्रख्यात हुआ। परन्तु इस कथामें जो लोहाचार्यके द्वारा इस संघकी स्थापना बतलाई गई है, उसपर विश्वास नहीं किया जा सकता है। यह भी खंडेलवालोंको जैन बनानेकी कथाके समान ऐतिहासिक तत्त्वसे शून्य है। क्योंकि उमास्वामी विक्रमकी पहली शताब्दीमें हुए हैं, जिस समय कि दिगम्बर सम्प्रदायमें एक भी मतभेद नहीं हुआ था। उस समय काष्ठासंघका नाम भी नहीं था। विक्रमकी सातवीं शताब्दिके पहलेके किसी भी ग्रन्थमें काष्ठासंघका नाम नहीं मिलता है। इसके सिवाय श्रीदेवसेनसूरिने काष्ठासंघके केवल १५० वर्ष पीछे जो काष्ठासंघकी उत्पत्ति लिखी है, उसपर जितना विश्वास किया जा सकता है, उतना वचनकोशके कथनपर नहीं हो सकता है। देवसेनसूरिका वर्णन विशेष विश्वस्त होनेका एक कारण यह भी है कि उन्होंने कुमारसेनका समय और उसकी गुरुपरम्परा बिलकुल ठीक २ बतलाई है। अन्य ग्रन्थोंके द्वारा भी जिनसेनादिका समय उनके कथनसे बराबर मिलता है। वचनकोशके कर्त्ताने काष्ठासंघके उत्पादक बतलाये तो लोहाचार्यको हैं; परन्तु उनका समय वही विक्रम संवत् ७५३ लिखा है जो कि लोहाचार्यके समयसे किसी भी प्रकार नहीं मिल सकता है। इससे भी वचनकोशकी कथा किसी किंवदन्तीके आधारसे लिखी हुई जान पड़ती

है। हां, उसमें जो सन्यासमरण न करनेकी तथा गोपुच्छ ग्रहण करनेकी बात है वह अवश्य दर्शनसारके कथनसे मिलती है, और उसका वह अंश है भी सर्वानुमत।

माथुरसंघकी उत्पत्ति।

यद्यपि माथुरसंघ काष्ठासंघका एक भेद है, तथापि उसमें कुछ विशेषता भी है और शायद इसी कारण वह माथुरगच्छ न कहला कर माथुरसंघ कहा जाता है। एक प्रकारसे यह एक स्वतंत्र संघ है। दर्शनसारमें इसकी उत्पत्तिके विषयमें निम्नलिखित गाथा मिलती है—

> तत्तो दुसएतीदे महुराए माहुराण गुरुणाहो।
> णामेण रामसेणो णिप्पिच्छियं वण्णियं तेण ॥ ४१ ॥

अर्थात् काष्ठासंघकी उत्पत्तिके दो सौ वर्ष पीछे मथुरा नगरीमें माथुरसंघका प्रवर्तक रामसेन नामका प्रधान मुनि हुआ। उसने बिना पिच्छीके मुनिका स्वरूप वर्णन किया। अर्थात् उसके मतके अनुसार मुनि बिना पिच्छिके भी रह सकता है।

इससे यह भी मालूम होता है कि पांच जैनाभासोंमें जो एक निःपिच्छिक जैनाभास बतलाया है, वह और माथुरसंघ एक ही है। माथुरसंघका ही दूसरा नाम निःपिच्छिक है।

मतविरोध।

स्त्रियोंकी दीक्षा, क्षुल्लक लोगोंको वीरचर्या, प्रायश्चित्त आदि विषयोंमें काष्ठासंघका जो मतभेद है, उससे हम भलीभांति परिचित नहीं

हैं। इस लिये हमें काष्ठासंघको जैनाभास कहना कुछ अटपटा मालूम पड़ता है और दर्शनसार जैसे प्रामाणिक ग्रन्थका प्रमाण पाकर भी हमारे हृदयमें अभी बहुतसे सन्देह विद्यमान हैं। विद्वानोंसे प्रार्थना है कि वे इस विषयका स्पष्टीकरण करके समाजका उपकार करें।

अभीतक हमारे यहां अनेक पुराण ग्रन्थ काष्ठासंघके ही प्रचलित हो रहे हैं, और समाजका बहुत बड़ा भाग इन्हीं ग्रन्थोंकी कथाओंपर श्रद्धानकरनेवाला है। इसके सिवाय अमितगतिश्रावकाचारादि अन्यान्य ग्रन्थ भी काष्ठासंघ और माथुरसंघके प्रचलित हैं, जिन्हें लोग सब प्रकारसे प्रमाण मानते हैं। कोई नहीं कहता है कि ये सब ग्रन्थ जैनाभासोंके बनाये हुए हैं। इससे यह जान पड़ता है कि काष्ठासंघ और मूलसंघमें पहले पहल लगभग विक्रमकी दशवीं शताब्दीमें जो विरोध था, वह आगे वृद्धिंगत नहीं हुआ—धीरे २ घटता गया और इस समय तो उसका प्रायः नामशेष ही हो चुका है। इस समय तेरह और **बीसपंथमें** जितना विरोध दिखलाई देता है, हमारी समझमें काष्ठासंघ और मूलसंघमें उतना भी विरोध नहीं रहा है और यदि दोनों संघके अनुयायियोंने बुद्धिमत्तासे काम लिया तो आगे सदाके लिये इस विरोधका अभाव हो जावेगा।

इस समय काष्ठासंघके अनुगामियोंको पृथक् छांटना भी कठिन हो गया है। **अग्रवाल नरसिंहपुरा** मेवाड़ा आदि थोड़ीसी जातियां इस संघकी अनुगामिनी हैं, और उनके भट्टारकोंकी गद्दी दिल्ली, मलखेड़, कारंजा, आदि स्थानोंमें है। परन्तु श्रावकोंमें अक्षतके पहले

पुष्पपूजा तथा भट्टारकोंमें मयूरपिच्छिके स्थानमें गोपुच्छ रखनेके सिवाय और कोई भेद नहीं जान पड़ता है। दोनों संघके श्रावक एक दूसरेके मन्दिरोंमें आते जाते हैं, और एक ही आचार विचारसे रहते हैं। क्षुल्लकोंकी वीरचर्या, स्त्रियोंकी दीक्षा, प्रायश्चित्तादि विवादविषयक बातोंका आज कल काम ही नहीं पड़ता है। इसलिये शेष बातोंमें काष्ठासंघ और मूलसंघका एकमत हो मिलकर रहना कुछ आश्चर्यका विषय नहीं है।

कुछ भी हो, अर्थात् माथुरसंघ जैनाभास भले ही हो परन्तु श्रीअमितगतिमुनिके अगाध पांडित्य और उत्कृष्ट कवित्वके विषयमें कुछ भी सन्देह नहीं है। इस विषयमें उनकी प्रशंसा करनेमें कोई भी कुंठित नहीं होगा और उनके पवित्र ग्रन्थोंके पठन पाठनका कोई भी विरोधी नहीं होगा। संसारमें उनकी कीर्ति यावच्चन्द्रदिवाकरौ स्थिर रहेगी। अलमतिविस्तरेण।

श्रीवादिराजसूरि ।

जैनियोंमें ऐसे बहुत कम लोग होंगे जिन्होंने सुप्रसिद्ध एकीभावस्तोत्रके कर्ता वादिराजसूरिका नाम न सुना हो । परन्तु ऐसे लोग शायद दो चार ही कठिनाईसे मिलेंगे जिन्हें यह मालूम हो कि वादिराज कौन थे, कब हुए हैं और उनकी कौन कौनसी रचनाओंसे जैनसमाज उपकृत हुआ है । हम अपने पाठकोंको इस लेखके द्वारा आज इसी महानुभावका थोड़ासा परिचय देना चाहते हैं ।

वादिराजसूरि नन्दिसंघके अचार्य थे । उनकी शाखा या अन्वयका नाम अरुङ्गल था । परन्तु यह नन्दिसंघ वह नन्दिसंघ नहीं है जिसकी गणना चार संघोंमें की जाती है, किन्तु द्रमिल या द्राविड़ संघका एक गच्छ वा भेद है । पाठकोंको मालूम होगा कि इस द्राविड़संघके स्थापक पूज्यपादस्वामीके शिष्य वज्रनन्दी हैं । इसकी गणना पांच जैनाभासोंमें की जाती है । द्रविड़ देशमें होनेके कारण इसका नाम द्राविड़ संघ पड़ा है । वे संभवतः दाक्षिणात्य थे । षट्तर्कषण्मुख, स्याद्वादविद्यापति, जगदेकमल्लवादी आदि उनकी उपाधियां थीं । वे सिंहपुरनिवासी त्रैविद्यविद्येश्वर श्रीपालदेव-

---

१—श्रीमद्द्रमिलसंघेऽस्मिन्नन्दिसंघेऽस्त्यरुङ्गलः ।
अन्वयो भाति योऽशेषशास्त्रवाराशिपारगः ॥

(Vide Ins. No 39, nagar Faluly Mr. Rice)

२—षट्तर्कषण्मुखरुं स्याद्वादविद्यापतिगळुं जगदेकमल्लवादीगळु एनिसिद श्रीवादिराजदेवरुम् ।

(Vide No. 36 Idid.)

के प्रशिष्य, मतिसागरमुनिके शिष्य और सुप्रसिद्ध रूपसिद्धि ग्रन्थके कर्त्ता दयापालमुनिके सब्रह्मचारी या सतीर्थ थे । शक संवत् ९४८ के लगभग उनके अस्तित्वका पता लगता है जब कि उन्होंने पार्श्वनाथचरितकी रचना की थी । पार्श्वनाथचरितकी निम्नलिखित प्रशस्तिसे इन सब बातोंका पता लगता है:—

श्रीजैनसारस्वतपुण्यतीर्थनित्यावगाहामलबुद्धिसत्त्वैः ।
प्रसिद्धभागी मुनिपुङ्गवेन्द्रैः श्रीनन्दिसंघोऽस्ति निवर्हितांहः ॥१॥
तस्मिन्नभूदद्भुतसंयमश्रीस्त्रैविद्यविद्याधरगीतकीर्तिः ।
सूरिः स्वयं सिंहपुरैकमुख्यः श्रीपालदेवो नयवर्त्मशाली ॥२॥
तस्याभवद्भव्यमहोत्पलानां तमोपहो नित्यमहोदयश्रीः ।
निषेधदुर्मार्गनयप्रभावः शिष्योत्तमः श्रीमतिसागराख्यः ॥३॥
तत्पादपद्मभ्रमरेण भूत्वा निःश्रेयसश्रीरतिलोलुपेन ।
श्रीवादिराजेन कथा निबद्धा जैनी स्वबुद्ध्येयमनिर्दयापि ॥ ४ ॥

शाकाब्दे नगवार्धिरन्ध्रगणने संवत्सरे क्रोधने
मासे कार्तिकनाम्नि बुद्धिमहिते शुद्धे तृतीया दिने ।
सिंहे पाति जयादिके वसुमतीं जैनी कथेयं मया
निष्पत्तिं गमिता सती भवतु वः कल्याणनिष्पत्तये ॥५

३—हितैषिणां यस्य नृणामुदात्तवाचा निबद्धा हितरूपसिद्धिः ।
वन्द्यो दयापालमुनिः स वाचा सिद्धः सतां मूर्धनि यः प्रभावैः ॥
यह रूपसिद्धिव्याकरण मैसूरकी ओरियंटल लायब्रेरीमें मौजूद है ।

४—यस्य श्रीमतिसागरो गुरुरसौ चञ्चद्यशश्चन्द्रभूः
श्रीमान्यस्य स वादिराजगणभृत्सब्रह्मचारी विभोः ।
एकोऽतीव कृती स एव हि दयापालव्रती यन्मन-
स्यास्तामन्यपरिग्रहग्रहकथा स्वे विग्रहे विग्रहः ॥ ४ ॥

(मल्लिषेणप्रशस्तिः)

लक्ष्मीवासे वसति कटके कट्टगातीरभूमौ
कामावाप्तिप्रमदसुलभे सिंहचक्रेश्वरस्य ।
निष्पन्नोऽयं नवरससुधास्यन्दसिन्धुप्रबन्धो
जीयादुच्चैर्जिनपतिभवप्रक्रमैकान्तपुण्यः ॥ ६ ॥

पिछले दो पद्योंसे यह भी मालूम होता है कि पार्श्वनाथचरित-की रचना जयसिंह महाराजके राज्य कालमें उनकी राजधानीमें हुई थी। यह सुन्दर राजधानी कट्टगा नामक नदीके किनारे थी।

इतिहासका पर्यवेक्षण करनेसे जाना जाता है कि, ये जयसिंह महाराज चौलुक्यवंशमें हुए हैं। पृथिवीवल्लभ, महाराजाधिराज, परमेश्वर, चालुक्यचक्रेश्वर, परमभट्टारक और जगदेकमल्ल आदि इनकी उपाधियां थीं। इनके वंशमें जयसिंह नामके एक और राजा हो गये हैं, इसलिये इन्हें द्वितीय जयसिंह कहते हैं। इनके राज्य समयके ३० से अधिक शिलालेख और ताम्रपत्र मिलते हैं; परन्तु उनसे इस बातका पता नहीं लगता कि इनका राज्यभिषेक कब हुआ था। उक्त लेखोंमें सबसे पहला लेख शक संवत् ९३८ का और सबसे पिछला शक संवत् ९६४ का है, जिससे इतना तो निर्विवाद सिद्ध होता है कि उन्होंने कमसे कम शक संवत् ९३८ से ९६४ तक राज्य किया है। इसके बाद उनका पुत्र सोमेश्वर (आहवमल्ल) उनके राज्यका स्वामी हुआ था।

---

१. यह कट्टगानदी कहां है और जयसिंहकी राजधानी कहां थी. यह मालूम नहीं। जयसिंहके पुत्र सोमेश्वर प्रथमने तो अपनी राजधानी कल्याणनगर (निजामराज्यके अन्तर्गत कल्याणी) में स्थापित की थी।

यह राजा बड़ा वीर और प्रतापी था। उसके एक लेखमें जो कि शक संवत् ९४९ पौष कृष्ण २ का लिखा हुआ है—लिखा है कि राजाओंके राजा जयसिंहने—जो भोजेरूप कमलके लिये चन्द्र और राजेन्द्रचोल (परकेसरीवर्मा) हाथीके लिये सिंहके समान था—मालवावालोंके सम्मिलित सैन्यका पराजय किया और चेर तथा चोलवालोंको सजा दी।

आगे जो मल्लिषेणप्रशस्तिका कुछ अंश उद्धृत किया गया है, उसके तीसरे पद्यमें जो जयसिंहकी राजधानीको 'वाग्वधूजन्म-भूमौ' विशेषण दिया है और दूसरे पद्यमें वादिराजको 'सिंहसमर्च्य-पीठविभवः' विशेषण दिया है उससे मालूम होता है कि जयसिंह महाराजकी राजधानीमें विद्याकी बहुत चर्चा थी—बड़े बड़े वादी कवि तथा नैयायिक पण्डितोंका वहां निवास था और जयसिंह महाराज वादिराजसूरिके भक्त थे—उनकी सेवा करते थे। यद्यपि इस प्रकारका कोई प्रमाण नहीं मिला है कि जयसिंहनरेश जैनी थे या जैनधर्ममें श्रद्धा रखते थे; परन्तु यह बात दृढ़तापूर्वक कही जा सकती है कि जैनधर्मपर और जैनधर्मके अनुयायियोंपर उनकी कृपा होगी। यही कारण है कि वादिराजसूरिपर उनकी भक्ति थी।

हमारे यहां एक कथा प्रसिद्ध है—और उसका एकीभावकी संस्कृतटीकामें तथा और भी कई ग्रन्थोंमें उल्लेख मिलता है कि वादिराजसूरिको एक बार कुष्टरोग हो गया था। महाराज जय-

---

१. कई विद्वानोंको इस विषयमें सन्देह है कि जयसिंहने भोजको हराया था।

२. देखो, काव्यमाला गुच्छक, पृष्ठ १२ की टिप्पणी।

३. देखो, वृन्दावनविलास पृष्ठ ३१ का ३४ वां पद्य।

सिंहके दरबारमें जब इस बातका ज़िकर छिड़ा तब वहां बैठे हुए किसी श्रावकने—जो कि वादिराजका भक्त था—पूछनेपर गुरुनिन्दाके भयसे यह कह दिया कि—नहीं मेरे गुरु वादिराज कोढ़ी नहीं हैं। इसपर बड़ी जिद्द हुई। आखिर यह ठहरा कि महाराज कल स्वयं चलकर वादिराजको देखेंगे। श्रावक महाशय उस समय कहते तो कह गये पर पीछे बड़ी चिन्तामें पड़े। और कोई उपाय न देख गुरुके पास जाकर उन्होंने अपनी भूल निवेदन की और कहा अब लज्जा रखना आपके हाथ है। कहते हैं कि उसी समय वादिराजसूरिने एकीभावस्तोत्रकी रचना की और उसके प्रभावसे उनका कुष्ठरोग दूर हो गया। एकीभावका चौथा श्लोक यह है,—

प्रागेवेह त्रिदिवभवनादेष्यता भव्यपुण्या-
त्पृथ्वीचक्रं कनकमयतां देव निन्ये त्वयेदम्।
ध्यानद्वारं मम रुचिकरं स्वान्तगेहं प्रविष्ट-
स्तत्किं चित्रं जिन वपुरिदं यत्सुवर्णीकरोषि ॥ ४ ॥

अर्थात्—हे भगवन्, स्वर्ग लोकसे माताके गर्भमें आनेके छह महीने पहलेहीसे जब आपने पृथ्वीको सुवर्णमयी कर दी, तब ध्यानके द्वारसे मेरे सुन्दर अन्तर्गृहमें प्रवेश कर चुकनेपर यदि आप मेरे इस शरीरको सुवर्णमय कर दें तो क्या आश्चर्य है?

वादिराजसूरिकी इस प्रार्थनासे अनुमान किया जाता है कि अवश्य ही उनके शरीरमें कुछ विकार हो गया था और वे उसको दूर

---

१ एकीभावके तीसरे पांचवें और सातवें श्लोकका भी इसीसे मिलता जुलता भाव है।

करना चाहते थे और वह विकार जैसा कि उक्त कथामें कहा गया है—कुष्ठरोग था।

दूसरे दिन महाराजने जाकर देखा तो वादिराजसूरिका दिव्य शरीर था—उनके शरीरमें किसी व्याधिका कोई चिन्ह नहीं दिखलाई देता था। यह देखकर उन्होंने उस पुरुषकी ओर कोपभरी दृष्टिसे देखा जिसने कि दरबारमें इस बातका जिकर किया था। मुनिराज राजाकी दृष्टिका अभिप्राय समझकर बोले—राजन्, इस पुरुषपर कोप करनेकी आवश्यकता नहीं है। वास्तवमें उसने सच कहा था—मैं सचमुच ही कोढ़ी था और उसका चिन्ह अभी तक मेरी इस कनिष्ठिका (अंगुली) में मौजूद है। धर्मके प्रभावसे मेरा कुष्ट आज ही दूर हुआ है। इत्यादि। यह सुनकर महाराजको बड़ा आश्चर्य हुआ। मुनिराजपर उनकी बड़ी भक्ति हो गई। मल्लिषेणप्रशस्तिका 'सिंहसमर्च्यपीठविभवः' विशेषण इसी बातको पुष्ट करता है। ऐसे प्रभावशाली महात्माकी जयसिंहनरेश अवश्य ही भक्ति करते होंगे।

वादिराजसूरि कैसे दिग्गज विद्वान् थे, इस बातका अनुमान पाठक नीचे लिखे हुए पद्योंसे करेंगे। ये पद्य श्रवणबेलगुलके 'मल्लिषेणप्रशस्ति'[1] नामक शिलालेखमें खुदे हुए हैं:—

त्रैलोक्यदीपिका वाणी द्वाभ्यामेवोदगादिह।
जिनराजत एकस्मादेकस्माद्वादिराजतः ॥ १ ॥
आरुह्याम्बरमिन्दुबिम्बरचितौत्सुक्यं सदा यद्यश-
श्छत्रं वाक्चमरीज—राजिरुचयोऽभ्यर्णं च यत्कर्णयोः।

---

1. यह प्रशस्ति शक संवत् १०५० की लिखी हुई है।

सेव्यः सिंहसमर्च्यपीठविभवः सर्वप्रवादिप्रजा-
दत्तोच्चैर्जयकारसारमहिमा श्रीवादिराजो विदाम् ॥२॥
यदीय गुणगोचरोऽयं वचनविलासप्रसरः कवीनाम्ः—
श्रीमच्चौलुक्यचक्रेश्वरजयकटके वाग्वधूजन्मभूमौ
निष्काण्डं डिण्डिमः पर्यटति पटुरटो वादिराजस्य जिष्णोः।
जह्युद्यद्वाददर्पो जहिहि गमकता गर्वभूमा जहारि
व्याहारेर्ष्यो जहारि स्फुटमृदुमधुरश्रव्यकाव्यावलेपः ॥ ३ ॥
पाताले व्यालराजो वसति सुविदितं यस्य जिह्वासहस्रं
निर्गन्ता स्वर्गतोऽसौ न भवति धिषणोवज्रभृद्यस्य शिष्यः।
जीवेतां तावदेतौ निलयवलवशाद्वादिनः केऽत्रनान्ये
गर्वं निर्मुच्य सर्वं जयिनमिनसभे वादिराजं नमन्ति ॥४॥
वाग्देवीसुचिरप्रयोगसुदृढप्रेमाणमप्यादरा-
दादत्ते मम पार्श्वतोऽयमधुना श्रीवादिराजो मुनिः।
भोः भोः पश्यत पश्यतैष यमिनां किं धर्म इत्युच्चकै-
रब्रह्मण्यपराः पुरातनमुनेर्वाग्वृत्तयः पान्तु वः ॥ ५ ॥

भावार्थ—त्रैलोक्यदीपिका (त्रैलोक्यको प्रकाशित करनेवाली) वाणी या तो जिनराजके मुखसे निर्गत हुई या वादिराजसूरिसे। वादिराजकी महत्त्वसामग्री राजाओंके समान थी। चन्द्रमाके समान उज्ज्वल यशका छत्र था, वाणीरूपी चँवर उनके कानोंके समीप ढुरते थे, सत्र उनकी सेवा करते थे, उनका सिंहासन जयसिंहनरेश-से वा पुरुषसिंहोंसे अर्चित था और सारी प्रवादी प्रजा उच्चस्वरसे उनका जयजयकार करती थी। उनके गुणोंकी प्रशंसा कवियों-

ने इस प्रकार की है—चौलुक्यचक्रवर्ती जयसिंहकी राजधानीमें—जो कि सरस्वतीरूपी स्त्रीकी जन्मभूमि थी—विजेता वादिराजसूरिकी इस प्रकार डुगडुगी पिटती थी कि हे वादियो, वादका घमंड छोड़ दो, हे काव्यमर्मज्ञो, तुम अपनी गमकताका गर्व त्याग दो, हे वाचालो, वाचालता छोड़ दो और हे कवियो, कोमल मधुर और स्फुट काव्य रचनाका अभिमान त्याग दो। जिसकी हज़ार जिह्वायें हैं वह नागराज पातालमें रहता है और इन्द्रका गुरु जो बृहस्पति है वह स्वर्गलोकमें चला गया है। ये दोनों वादी उक्त-स्थानोंमें जीते रहें। इन्हें छोड़कर यहां कोई वादी नहीं रहा है। बतलाइये, यहां और कौन है? जो थे वे तो सब बलक्षीण हो जानेसे गर्व छोड़कर राजससभामें इस विजयी वादिराजको नमस्कार करते हैं। इत्यादि।

एकीभावस्तोत्रके अन्तमें किसी कविका बनाया हुआ जो यह श्लोक है, उसे तो पाठकोंने सुना ही होगा—

> वादिराजमनु शाब्दिकलोको वादिराजमनुतार्किकसिंहः।
> वादिराजमनु काव्यकृतस्ते वादिराजमनु भव्यसहायः॥

अर्थात् जितने वैयाकरण हैं, जितने नैयायिक हैं, जितने कवि हैं और जितने भव्यसहायक हैं वे सब वादिराजसूरिसे पीछे हैं। भाव यह कि वादिराजके समान कोई वैयाकरण नैयायिक और कवि नहीं है।

एक प्रशंसात्मक श्लोक और भी सुनिए:-

सदसि यदकलंङ्कः कीर्तने धर्मकीर्ति-
वंचसि सुरपुरोधा न्यायवादेऽक्षपादः ।
इति समयगुरुणामेकतः संगतानां
प्रतिनिधिरिव देवो राजते वादिराजः ॥

(Vide Ins. No. 39, Nagar Falug by Mr. Rice)

अर्थात् वादिराजसूरि सभामें बोलनेके लिये अकलङ्क भट्टके समान हैं, कीर्तिमें धर्मकीर्ति (न्यायविन्दुके कर्त्ता प्रसिद्ध वौद्ध नैयायिक) के समान हैं, वचनोंमें वृहस्पति (चार्वाक) के समान हैं और न्यायवादमें अक्षपाद अर्थात् गौतमके समान है। इस तरह वे (श्रीवादिराजदेव) इन जुदा जुदा धर्मगुरुओंके एकीभूत प्रतिनीधिके समान शोभित होते हैं।

श्रीवादिराजसूरिकी प्रशंसामें ऊपरके श्लोकोंमें जो कुछ कहा गया है उससे अधिक और क्या कहा जा सकता है? वह समय सचमुच ही धन्य था जब जैनसाहित्य और जैनधर्मका मस्तक उन्नत करनेवाले ऐसे २ महात्मा जन्म लेते थे।

वादिराज स्वामीके बनाये हुए केवल चार ग्रन्थोंका पता लगता है—१ एकीभावस्तोत्र, २ यशोधरचरित, ३ पार्श्वनाथचरित, और ४ काकुत्स्थचरित। इनमेंसे एकीभावस्तोत्र केवल २५ श्लोकोंकी छोटीसी स्तुति है उसका सर्वत्र बहुलतासे प्रचार है। इस स्तोत्रकी कविता बड़ी ही कोमल सरस मधुर और हृदयद्रावक है। दूसरा यशोधरचरित छोटासा चतुःसर्गात्मक काव्य है। इसमें केवल २९६

पद्य हैं और उनमें यशोधर महाराजकी संक्षिप्त कथा कही गई है। इस ग्रन्थको तंजौरके श्रीयुत टी. एस. कुप्पूस्वामी शास्त्रीने अभी हाल ही छपाकर प्रकाशित किया है। वादिराजसूरिकी रचनामें यह बड़ी खूबी है कि वह सरल होनेपर भी कोमल मधुर और मनोहारिणी है। हमारी इच्छा थी कि उनके ग्रन्थोंके कुछ पद्य यहां उद्धृत करके पाठकोंको उनकी खूबी दिखलावें; परन्तु स्थानाभावसे हम ऐसा न कर सके। अस्तु। तीसरा ग्रन्थ पार्श्वनाथचरित है। उक्त ग्रन्थके हमने दर्शनमात्र किये हैं; पर उसे पढ़ नहीं सके। हमारे मित्र पं० उदयलालजी काशलीवालके पास वह है। उन्होंने हमसे उसके कवित्वकी बहुत ही प्रशंसा की है। चौथा ग्रन्थ काकुत्स्थचरित है। यशोधरचरितमें इस ग्रन्थका उल्लेख तो मिलता है; परन्तु तलाश करनेपर भी इसका कहीं पता नहीं लगा।

श्रीपार्श्वनाथ—काकुत्स्थचरितं येन कीर्तितम्।
तेन श्रीवादिराजेन दृब्धा याशोधरी कथा ॥५॥ सर्ग १

इन चार ग्रन्थोंके सिवा मल्लिषेणप्रशस्तिका जो 'त्रैलोक्यदीपिका वाणी' आदि श्लोक है उससे मालूम होता है कि वादिराजसूरिका कोई 'त्रैलोक्यदीपिका' नामका ग्रन्थ भी है।

---

१. अर्थात् जिसने पार्श्वनाथचरित और काकुत्स्थचरितको रचा है, उसी वादिराजने यह यशोधरचरित बनाया। काकुत्स्थ नाम रामचन्द्रका है, अतएव इस ग्रन्थमें बहुत करके रामचन्द्रका चरित होगा।

वादिराजसूरि केवल कवि ही नहीं थे। वे न्यायादि शास्त्रोंके भी असाधरण विद्वान् थे। तब अवश्य ही उनके बनाये हुए न्याय व्याकरणादि विषयक ग्रन्थ भी होंगे। परन्तु कालके कुटिलचक्रमें पड़कर आज उनका दर्शन दुर्लभ हो गया है। एक सूचीपत्रमें वादिराजके रुक्मणियशोविजय, वादमंजरी, धर्मरत्नाकर, और अकलंकाष्टकटीका इन तीन ग्रन्थोंके नाम और भी मिलते हैं; परन्तु वादिराजनामके और भी कई विद्वान् हो गये हैं, इसलिये निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वे इन्हीं वादिराजके हैं अथवा किसी अन्यके।

वादिराजसूरिका पार्श्वनाथचरित शक संवत् ९४८ में बना है, यह पूर्वमें कहा जाचुका है; परन्तु शेष ग्रन्थ कब बने—प्रशस्तियोंके अभावसे इस बातका पता नहीं लगता। यशोधरचरितके विषयमें इतना कहा जा सकता है कि वह जयसिंह महाराजके ही राज्यकालमें बना है। क्योंकि उसके तीसरे सर्गके अन्त्यश्लोकमें और चौथे सर्गके उपान्त्य श्लोकमें कविने चतुराईसे जयसिंहका नाम योजित कर दिया है—

" व्यातन्वञ्जयसिंहतां रणमुखे दीर्घं दधौ धारिणीम् ॥ ८५"

" रणमुखजयसिंहो राज्यलक्ष्मीं बभार ॥ ७३ "

श्रीवादिराजसूरिका निवासस्थान कहां था, उन्होंने कब दीक्षा ली थी और कब तक इस धराधामको अपनी पुण्यमूर्तिसे सुशोभित किया था यह जाननेका कोई साधन प्राप्त नहीं होनेसे खेद है कि इस विषयमें हम कुछ नहीं लिख सके।

श्रीवादिराजसूरिके समकालीन कई बड़े २ विद्वान हो गये हैं। श्रीविजयभट्टारककी—जिनका कि दूसरा नाम पण्डितपारिजात था, स्वयं वादिराजसूरिने एक पद्यमें स्तुति की है। वह पद्य यह है.—

यद्विद्यातपसोः प्रशस्तमुभयं श्रीहेमसेने मुनौ
प्रागासीत्सुचिराभियोगबलतो नीतं परामुन्नतिम्।
प्रायः श्रीविजये तदेतदखिलं तत्पीठिकायां स्थिते
संक्रान्तं कथमन्यथानतिचिराद्विद्येदृगीदृक्तपः ॥

ये विजयभट्टारक हेमसेन मुनिके पदपर बैठे थे। इनकी प्रशंसाका एक श्लोक मल्लिषेणप्रशस्तिमें भी मिलता है। इस श्लोकसे यह भी मालूम होता है कि उस समयके कोई गंगवंशी नरेश उनके भक्त थे:—

गङ्गावनीश्वरशिरोमणिबन्धसन्ध्या-
रागोल्लसच्चरणचारुनखेन्दुलक्ष्मीः।
श्रीशब्दपूर्वविजयान्तविनूतनामा
धीमानमानुषगुणोऽस्ततमःप्रमांशुः ॥

बहुत करके ये गंगवंशीनरेश चामुंडराय महाराज होंगे। क्योंकि चामुंडरायका समय शककी दशवीं शताब्दी ही है। उनका जन्म शक संवत् ९०० में हुआ था। यद्यपि वे महाराज राजमल्लके मंत्री या सेनापति थे तो भी राजा कहलाते थे। वे जैनधर्मके परम भक्त थे, यह तो प्रसिद्ध ही है।

गद्यचिन्तामणि और क्षत्रचूडामणि काव्यके कर्त्ता वादीभसिंहके विद्यागुरु पुष्पसेन भी वादिराजके समकालीन थे।

महाकवि मल्लिषेण (उभयभाषाकविचक्रवर्ती) जिन्होंने कि शक संवत् ९६९ में महापुराणकी रचना की है लगभग इसीसमयके ग्रन्थकर्त्ता हैं।

दयापाल मुनि जो कि वादिराजके सतीर्थ थे बड़े भारी विद्वान् थे। मल्लिषेणप्रशस्तिमें उनकी प्रशंसाके कई पद्य हैं। स्थानाभावसे हम उन्हें उद्धृत नहीं कर सके। नेमिचन्द्रसिद्धान्त चक्रवर्ती और कनड़ीके रन्न अभिनवपम्प नयसेन आदि प्रसिद्ध कवि भी लगभग इसी समय हुए हैं। शककी इस दशवीं शताब्दीने जैनियोंमें बीसों विद्वद्रत्न उत्पन्न किये थे।

नोट—इस लेखके लिखनेमें हमें यशोधरचरितकी भूमिकासे और सोलंकियोंके इतिहाससे बहुत सहायता मिली है। अतएव हम दोनों ग्रन्थोंके लेखकोंका हृदयसे उपकार मानते हैं।

---

१. श्रीयुक्त टी. एस्. कुप्पूस्वामी शास्त्रीने यशोधरचरितकी भूमिकामें लिखा है कि वादीभसिंहका वास्तविक नाम अजितसेन मुनि था। वादीभसिंह उनका एक विशेषण या पदवी थी। यथा मल्लिषेणप्रशस्तौ—

सकलभुवनपालानम्रमूर्धावबद्धस्फुरितमुकुटचूडालीढपादारविन्दः।
मदवदखिलवादीभेन्द्रकुम्भप्रभेदी गणभृदजितसेनो भाति वादीभसिंहः॥

२. पुष्पसेनमुनि वादिराजके समकालीन होनेसे वादीभसिंहका समय भी एक प्रकारसे निश्चित हो जाता है जो कि पहले अनुमानोंसे सिद्ध किया जाता था।

महाकवि मल्लिषेण।

मल्लिषेण नामके पहले बहुतसे आचार्य हो गये हैं, और उन-मेंसे बहुतसे ऐसे हैं जिन्होंने अनेक ग्रन्थोंकी रचना भी की है। हम जिन मल्लिषेणके विषयमें लिखना चाहते हैं, उनसे कुछ ही वर्षों पीछे एक मल्लिषेण नामके दूसरे आचार्य हो गये हैं, जो पहले मल्लिषेणकी ही श्रेणीके विद्वान् थे। इस थोड़ेसे अन्तरके कारण अभीतक बहुत लोग दोनोंको एक ही समझते थे। परन्तु अब यह भ्रम दूर हो गया है। पहिले मल्लिषेण उभयभाषाकविचक्रवर्तीके पदसे सुशोभित थे और दूसरे मलधारिन् पदसे युक्त थे।

उभयभाषाकविचक्रवर्ती मल्लिषेणने महापुराणकी प्रशस्तिमें अपना परिचय इस प्रकार दिया है:—

> तीर्थे श्रीमुलगुन्दनाम्निनगरे श्रीजैनधर्मालये
> स्थित्वा श्रीकविचक्रवर्तियतिपः श्रीमल्लिषेणाह्वयः।
> संक्षेपात्प्रथमानुयोगकथनव्याख्यान्वितं शृण्वतां
> भव्यानां दुरितापहं रचितवान्निःशेषविद्याम्बुधिः॥
> वर्षैकत्रिंशताहीने सहस्रे शकभूभुजः।
> सर्वजिद्वत्सरे ज्येष्ठे सशुक्ले पञ्चमीदिने॥

---

१. स्याद्वादमंजरीके कर्त्ताका नाम भी मल्लिषेण ही है, परन्तु वे श्वेताम्बर सम्प्रदायमें हुए हैं। २. इस पदका अर्थ समझमें नहीं आता और भी दो एक विद्वान् इस पदसे शोभित रहे हैं, जैसे कि मलधारि श्रीपद्मप्रभसूरि।

अनादितत्समाप्तं तु पुराणं दुरितापहम् ।
जीयादाचन्द्रतारार्कं विदग्धजनचेतसि ॥
श्रीजिनसेनसूरितनुजेन कुदृष्टिमतप्रभेदिना
गारुडमंत्रवादसकलागमलक्षणतर्कवेदिना ॥
तेन महापुराणमुदितं भुवनत्रयवर्तिकीर्तिना ।
प्राकृतसंस्कृतोभयकवित्वधृता कविचक्रवर्तिना ॥

इन श्लोकोंसे मालूम होता है कि महाकवि मल्लिषेण संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओंके महाकवि थे—कवियोंके चक्रवर्ती थे, व्याकरण, न्याय, आगम, गारुड मंत्रवाद आदि सब विषयोंके ज्ञाता थे; बड़े २ मिथ्यादृष्टियोंको उन्होंने पराजित किया था और सब ओर उनकी कीर्ति फैल रही थी । शक संवत् ९६९ की ज्येष्ठ सुदी ५ को उन्होंने मूलगुंद नामक तीर्थके जिनमन्दिरमें अथवा वसतिकामें महापुराणको समाप्त किया था । यह मूलगुंद नामका ग्राम अब भी है और धारवाड़ जिलेके गदग तालूकामें उसकी गणना की जाती है । पहले शायद यह स्थान बहुत प्रसिद्ध रहा होगा, परन्तु अब नहीं है । उन्होंने आपको श्रीजिनसेनसूरिका पुत्र बतलाया है । इससे जान पड़ता है कि गृहस्थजीवनमें जो इनके पिता होंगे, पीछेसे उन्होंने दीक्षा ले ली होगी और मुनिजीवनमें उनका नाम जिनसेन रक्खा गया होगा । जिनसेन नामके भी कई आचार्य हो गये हैं, इससे यह पता लगाना कठिन है कि, इनके पिता कौन थे । आदिपुराणके कर्त्ता भगवज्जिनसेनका समय शक संवत् ७६५ तकका निश्चय हो चुका है, और हरि-

वंशपुराणके कर्त्ता जिनसेनने हरिवंशपुराण शक संवत् ७०५ में समाप्त किया है; सो उक्त दो जिनसेन तो मल्लिषेणके पिता हो नहीं सकते हैं; क्योंकि इन दोनोंसे मल्लिषेणका समय दो सौ वर्ष पीछे है, अतः इनके पीछे होनेवाले कोई तीसरे ही जिनसेन इनके पिता होंगे।

मल्लिषेणकृत महापुराण बहुत छोटा है। केवल दो हजार श्लोकोंमें उसकी संक्षेपतः रचना की गई है। परन्तु ग्रन्थ बहुत सुन्दर है और उसमें अनेक विषय ऐसे आये हैं जो दूसरे ग्रन्थोंमें नहीं हैं। इसकी एक प्रति कोल्हापुरके भट्टारक लक्ष्मीसेनजीके मठमें प्राचीन कानड़ी लिपिमें ताड़पत्रोंपर लिखी हुई है। उसपर इस बातका उल्लेख नहीं है कि वह कब लिखी गई है। श्रवणबेल्गुलके ब्रह्मसूरिशास्त्रीके भंडारमें भी शायद उसकी एक प्रति है।

'उभयभाषाकविचक्रवर्ती' ने इसमें सन्देह नहीं कि अनेक ग्रन्थोंकी रचना की होगी, परन्तु अभीतक उनके सिर्फ तीन ही ग्रन्थोंका पता लगा है; एक महापुराण जिसका ऊपर उल्लेख हो चुका है, दूसरा नागकुमारकाव्य और तीसरा सज्जनचित्तवल्लभ। ये तीनों ग्रन्थ संस्कृतमें हैं। प्राकृतमें अभीतक आपका कोई भी ग्रन्थ प्राप्त नहीं हुआ है, परन्तु होगा अवश्य। क्योंकि आपने अपनेको संस्कृतके समान प्राकृतका भी कवि कहा है। प्रवचनसारटीका, पंचास्तिकाय-टीका, ज्वालिनीकल्प, पद्मावतीकल्प, वज्रपंजरविधान, ब्रह्मविद्या और आदिपुराण ये ग्रन्थ भी मल्लिषेणाचार्यके नामसे प्रसिद्ध हैं; परन्तु यह नहीं कहा जा सकता है कि इनमेंसे उभयभाषाकविचक्रवर्तीके रचे हुए कौनसे हैं, और दूसरोंके कौनसे?

नागकुमारकाव्य एक छोटासा पंचसर्गात्मक काव्य है और ५०७ श्लोकोंमें पूर्ण हो गया है। यद्यपि इस ग्रन्थमें कर्त्ताने अपनी प्रशस्ति नहीं दी है और प्रारंभमें एक जगह अपने मल्लिषेण नामके सिवाय कुछ भी नहीं लिखा है, तो भी प्रत्येक सर्गके अन्तमें इत्युभयभाषाकविचक्रवर्तिश्रीमल्लिषेणसूरिविरचितायां श्रीनागकुमारपञ्चमीकथायां इत्यादि लिखा हुआ है, जिससे जान पड़ता है कि महापुराणके कर्त्ता मल्लिषेणने ही इसकी रचना की है। इस काव्यके प्रारंभमें लिखा है कि—

कविभिर्जयदेवाद्यैर्गद्यैः पद्यैर्विनिर्मितम्।
यत्तदेवास्ति चेदत्र विषमं मन्दमेधसाम् ॥
प्रसिद्धसंस्कृतैर्वाक्यैर्विद्वज्जनमनोहरम्।
तन्मया पद्यबन्धेन मल्लिषेणेन रच्यते ॥

इससे मालूम होता है कि, मल्लिषेणके पहिले जयदेव आदि कई कवियोंके बनाये हुए गद्य और पद्यमय नागकुमार थे, परन्तु वे कठिन थे इसलिये मल्लिषेणने इसे सरल और प्रसिद्ध संस्कृतमें बनाना उचित समझा। वास्तवमें यह काव्य बहुत सरल है और साधारण संस्कृत पढ़े हुए इसे सहज ही समझ सकते हैं।

सज्जनचित्तवल्लभ केवल २५ शार्दूलविक्रीडित श्लोकोंका छोटासा काव्य है। इसमें मुनियोंको बहुत ही प्रभावशाली शब्दोंमें उपदेश दिया है कि तुम अपने चारित्रको निर्मल रक्खो, ग्रामके समीप

---

१. बाहूबलिनामके कविने इस काव्यका अनुवाद कनड़ी भाषामें शक संवत् १५०७ में किया है।

मत रहो, स्त्रियोंसे सम्बन्ध मत रक्खो; परिग्रह धनादिकी आकांक्षा मत करो, भिक्षामें जो लूखा सूखा भोजन मिले, उससे संतोषपूर्वक पेट भर लो और इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करके अपने यति नामको सार्थक करो। इस छोटेसे ग्रन्थके पाठ करनेसे अनुमान होता है कि श्रीमल्लिषेणाचार्यको अपने समयके मुनियोंको शिथिलाचारमें प्रवृत्त देखकर बड़ी चोट लगी थी। उनके हृदयकी वह चोट सज्जनचित्तवल्लभके कई श्लोकोंसे स्पष्ट व्यक्त होती है। इसमें सन्देह नहीं कि वे बड़े दृढ़व्रती और विरक्त मुनि होंगे; परन्तु उस समयके सब ही मुनि ऐसे नहीं होंगे। उनमें अवश्य ही शिथिलाचारकी प्रवृत्ति होने लगी होगी। भट्टारकोंकी उत्पत्ति भले ही बहुत पीछे हुई हो परन्तु उनका बीज उनसे कई सौ वर्ष पहिले हमारे मुनिसमाजमें पड़ चुका होगा।

दूसरे मल्लिषेण आचार्य जिनकी कि 'मलधारिन्' पदवी थी और जिनका उल्लेख इस लेखके प्रारंभमें किया गया है, शक संवत् १०५० की फाल्गुन कृष्ण तृतीयाको श्वेतसरोवरमें (श्रवणबेलगुलमें) समाधिस्थ हुए थे ऐसा मल्लिषेणप्रशस्तिसे[1] मालूम पड़ता है जो कि 'इन्स्क्रिप्शन्स एट् श्रवणबेलगोला' नामक अंग्रेजी पुस्तकमें प्रकाशित हो चुकी है। वे अजितसेन नामक आचार्यके शिष्य थे और बड़े भारी विद्वान् योगी और जितेन्द्रिय थे।

---

१ यह बड़ी भारी प्रशस्ति श्रवणबेलगोलाके पार्श्वनाथवस्ती नामके मन्दिरमें कई शिलाओंपर उकीरी हुई अब भी मौजूद है।

स्वामिसमन्तभद्राचार्य ।

सरस्वतीस्वैरविहारभूमयः समन्तभद्रप्रमुखा मुनीश्वराः ।
जयन्तु वाग्वज्रनिपातपातीमतीपराद्धान्तमहीध्रकोटयः ॥

—श्रीवादीभसिंह ।

भगवान् समन्तभद्र विक्रमकी दूसरी शताब्दीके लगभग हो गये हैं । इनके समान स्याद्वाद नयके पारगामी आचार्य बहुत ही थोड़े हुए हैं ।

इनके समयके विषयमें बहुत मतभेद है । अभी तक कोई प्रमाण ऐसा नहीं मिला है जिसे निश्चय पूर्वक कहा जा सके कि वे कब हुए हैं । महामहोपाध्याय पं० सतीशचन्द्र विद्याभूषण एम. ए. ने इनका समय ईस्वी सन् ६०० निश्चय किया है । परन्तु किन प्रमाणोंसे उन्होंने यह स्थिर किया है, जब तक यह मालूम न हो, तब तक हम जैनियोंकी पट्टावली आदिके अनुसार इन्हें विक्रमकी दूसरी शताब्दीका ही मानते हैं ।

श्रीकुन्दकुन्दाचार्यके पट्टपर प्रभाचन्द्र नामके एक आचार्य हो गये हैं । उन्होंने प्राकृत भाषामें समन्तभद्राचार्यका एक चरित्र-ग्रन्थ लिखा है। वह ग्रन्थ वर्तमानमें अप्राप्य हो गया है; परन्तु उसका सारांश मल्लिषेण भट्टारकके शिष्य श्रीनेमिदत्त ब्रह्मचारीके बनाये हुए आराधनासार कथाकोषमें मिलता है । पहले हम उसका चरित्रात्मक अंश ही यहांपर प्रगट करते हैं:—

स्वामि समन्तभद्र मैसूर प्रान्तस्थ कांचीनगरीके रहनेवाले थे। उस समय कांचीदेशमें जैनधर्मका बहुत अच्छा प्रचार था। वहां बड़े २ विद्वान् और तपस्वी ऋषिमुनि विहार किया करते थे। उस समय तक वहां बौद्धधर्मका प्रवेश नहीं हुआ था। क्योंकि ऐसा उल्लेख मिलता है कि ईसाकी तीसरी शताब्दिमें बौद्धभिक्षुक उस देशमें आये थे। परन्तु अन्य प्रान्तोंमें बौद्धधर्मका खासा प्रचार हो रहा था। उस प्रान्तमें ईसाकी तीसरी सदीसे लेकर जबतक भगवान् अकलंकदेवने अवतार लेकर जैनधर्मकी फिरसे विजय दुंदुभी नहीं बजाई, तबतक बौद्धधर्म बराबर रहा है। अस्तु।

स्वामीने गृहस्थधर्म धारण करके पीछे दीक्षा ली अथवा बाल्यावस्थामें ही दीक्षा ले ली, चरित्रमें इस बातका कुछ भी उल्लेख नहीं मिलता है। तो भी उनके सम्पूर्ण विषयोंके आश्चर्यकारक पांडित्यपर विचार करनेसे यह कहा जा सकता है कि उन्हें शिक्षा बाल्यकालमें ही मिली होगी। दीक्षा लेनेके पश्चात् स्वामीने कांचीदेशमें विहार करके जैनधर्मका बड़ा भारी उद्योत किया। परन्तु उसी समय उन्हें 'भस्मक व्याधि' नामका रोग हो गया। जिससे कि चाहे जितना खाया पिया जाय, सब भस्म हो जाता है और भूखकी वेदना बराबर बनी रहती है। इसके कारण मुनिधर्मका पालन करना असंभव हो गया। लाचार स्वामीको उस समय अपने चारित्र मार्गसे च्युत हो जाना पड़ा। भूख शांत करनेके लिये उन्होंने यतिवेष त्याग दिया और साधारण साधुका वेष धारण करके कांचीदेशसे बाहर चल दिया।

उत्तरकी ओर जाते जाते मार्गमें उन्हें पौंड्रपुर[1] मिला। उक्त नगरमें एक बड़ी भारी दानशाला थी और उसमें बुद्ध भिक्षुकोंको इच्छानुसार भोजन मिलता था। यह देखकर स्वामीने बौद्ध साधुका वेष धारण कर लिया और कुछ दिनों वहीं निवास किया। परन्तु भरपेट भोजन न मिलनेसे वहांसे चल दिया।

फिर विहार करते करते वे दशपुर[2] नगरमें पहुंचे। परन्तु वहांपर वैदिक धर्मकी प्रबलता थी, इसलिये बौद्धवेष छोड़कर स्वामीजी भागवतधर्मीय साधु बन गये। परन्तु वहां भी जो सदावर्तसे भोजन मिलता था, उससे उनके रोगकी शान्ति नहीं हुई, इसलिये दशपुरसे विदा लेनी पड़ी। वहांसे चलकर स्वामीजी वाराणसीमें पहुंचे। उस समय वहां शिवकोटि नामका राजा राज्य करता था। वह बड़ा भारी शिवभक्त था। उसने शिवजीका एक सुविशाल मन्दिर बनवाया था और उसकी पूजा वह शैव ब्राह्मणोंसे षट्रस पक्वान्नके विपुल नैवेद्यसे करवाता था। उस नैवेद्यका ठाटबाट देखकर स्वामीजी तत्काल ही शैवऋषि बन गये। मस्तकपर जटा बढ़ा लिये, कमंडलु रुद्राक्षकी माला आदि उपकरण ले लिये और एक लम्बा चौड़ा त्रिपुंड

---

१. प्रो० लॅसन और पं० व्यंकटस्वामीके मतसे विहार देशसे मिला हुआ जो बंगालका कुछ भाग है, वह पुंड्रदेश है और महाभारतमें भी ऐसा वर्णन है कि अंगदेशसे वंगदेशमें प्रवेश करनेके पहले **भीमने** पुंड्रदेशीय लोगोंको जीते। इसलिये अंग और वंगके बीचका देश अर्थात् विहार और बंगालके मध्यका देश ही पुंड्र है। २. वर्तमान मन्दसौर (मालवा)।

लगाकर शिवजीके मन्दिरमें जा पहुंचे ! स्वामीजीको बारबार वेष बदलते देख यह शंका हो सकती है कि उनकी श्रद्धा कैसे ठीक रही होगी? इसका उत्तर कथाकोशमें इस प्रकार दिया गया है:—

अन्तस्फुरितसम्यक्त्वे बहिर्व्याप्तकुलिङ्गकः ।
शोभितोऽसौ महाकान्तिः कर्दमाक्तमणिर्यथा ॥

अर्थात् अन्तरंगके स्फुरायमान सम्यक्त्वसे और बाह्यके कुलिंग वेषसे स्वामी समन्तभद्र ऐसे शोभित होते थे, जैसे कीचड़में लिपटा हुआ अतिशय चमकदार मणि । सारांश यह है कि प्रबल रोगके कारण उनका चारित्र शिथिल हो गया था; परन्तु सम्यक्त्वमें या श्रद्धानमें कुछ भी अन्तर नहीं पड़ा था, वे असंयतसम्यग्दृष्टी थे । अस्तु । जिस समय शिवजीको वह विपुल नैवेद्य अर्पण होने लगा, उस समय स्वामीजीने जो कि शैव साधुका वेप धारण किये हुए वहां खड़े थे, कहा—"यदि महाराजकी आज्ञा मुझे मिल जावे, तो मैं यह नैवेद्य स्वयं भोलानाथको भक्षण करा सकता हूं!" किसी चंचल पुरुपने यह आश्चर्ययुक्त वार्ता तत्काल ही राजासे जाकर कह दी । राजा बड़े ही प्रसन्न हुए और स्वामीजीके दर्शन करनेके लिये स्वयं चले आये । फिर उन्होंने आज्ञा दे दी कि यह सब प्रसाद इन्हीं नवागत ऋषि महाराजके हाथसे शिवजीको अर्पण हुआ करेगा । ऐसा ही हुआ । स्वामीजीने मन्दिरके किवाड़ बन्द किये और नैवेद्य जिससे कि सैकड़ों ब्राह्मणोंका पेट भरता था, आप अकेले गिलंकृत कर गये । फिर क्या था, हमेशाके लिये यह नियम हो गया । लोक

समझते थे कि प्रसादको शिवजी भक्षण कर जाते हैं; परन्तु यह स्वामीजी ही सारा पा जाते थे। इस तरह तीन चार महिने स्वामीजीने अपने उदरदेवकी पूजा की। परन्तु पीछे भस्मकरोग धीरे २ शान्त होने लगा और प्रतिदिन थोड़ा थोड़ा प्रसाद शेष रहने लगा! यह देख शिवभक्तोंको शंका उत्पन्न हुई। अनेक भक्तोंका शिवजीके प्रसादसे पालन होता था, उसमें अन्तराय आगया; इसलिये यह नवीन शिव-भक्त उन्हें शत्रु सरीखा सूझने लगा। परन्तु राजाकी आज्ञाके मारे बेचारोंका कुछ जोर नहीं चलता था। पर जब उन्होंने देखा कि, प्र-साद थोड़ा थोड़ा बचने लगा है, तब अपना बदला चुकानेका अवसर पाकर वे बहुत प्रसन्न हुए। तत्काल ही उन्होंने यह बात राजासे जाकर कह दी। जब राजाने नवीन शिवभक्तसे पूछा कि यह क्या बात है? तब उन्होंने उत्तर दिया कि, "सदाशिव इतने दिन प्रसाद पाकर तृप्त हो गये हैं, इसलिये अब वे थोड़ा थोड़ा मिष्टान्न छोड़ देते हैं।" परन्तु इससे राजाको सन्तोप नहीं हुआ। उससे यथार्थ बात क्या है, इसका निर्णय करनेके लिये भक्तमंडलीसे कहा। भक्त तो पहलेहीसे तयार थे, इसलिये उनमेंसे किसीने महादेवको जो बिल्वपत्र (बेलपत्री) चढ़ाये जाते थे, उनके ढेरमें घुसकर छुपे छुपे स्वामीजीकी लीला देख ली। उसने तत्काल ही राजासे जाके कह दिया कि, "महाराज! यह पाखंडी शिवजीको एक कणिका भी नहीं [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] आप ही खा जाता है, यह मैंने अपने नेत्रोंसे देखा है।" यह सुनकर राजा कुपित हुआ। उसने मन्दिरमें आकर स्वामीजीसे पूछा कि "तू इतने दिन तक हम

लोगोंको धोखा क्यों देता रहा, और तूने हमारे सदाशिवको आजतक नमस्कार क्यों नहीं किया? इसपर स्वामीने अपनी भस्मव्याधिकी सारी कथा कह सुनाई और नमस्कार करनेके विषयमें कहा कि ये सदाशिव रागद्वेष युक्त हैं और मैं वीतरागका उपासक हूं! यदि मैं अपने अष्टकर्मविनिर्मुक्त वीतरागदेवका स्मरण करके नमस्कार करता तो इन्हें सहन नहीं होता! इसलिये मैंने नमस्कार नहीं किया है। परन्तु राजाने कहा "चाहे जो हो अब तुझे नमस्कार करना ही पड़ेगा।" शिवकोटिका इस विषयमें अतिशय आग्रह देखकर स्वामीने कह दिया, "अच्छा आपका आग्रह ही है, तो मैं कल सवेरे आपके सदाशिवको नमस्कार करूंगा।" यह सुनकर राजा स्वामिसमन्तभद्रको रातभर अंधेरी कोठरीमें कैद रखनेकी आज्ञा देकर अपने महलमें चला गया।

रातको जब स्वामीजीने शुद्धचित्तसे जिनेश्वरदेवका स्मरण किया, तब जिनशासनी अम्बिकादेवीने उपस्थित होकर स्वामीकी स्तुति की और कहा; "सवेरे आपकी इच्छानुसार सब कार्य हो जायगा। आप स्वयंभूस्तोत्रकी रचना करके तीर्थंकरोंकी स्तुति कीजिये, इससे आपकी सब चिन्ता दूर हो जायगी" ऐसा कहकर देवी अदृश्य हो गई और स्वामी शुद्धान्तःकरणसे श्रीजिनेन्द्रदेवका ध्यान करने लगे।

सवेरा होते ही राजाने उस अंधेरी कोठरीमेंसे स्वामीको निकलवाया, जिसमें वायुका लेश भी प्रवेश नहीं हो सकता था और उन्हें सब प्रकारसे आरोग्य और प्रसन्न देखकर बड़ा अचरज मानां। बाहर

---

१. प्रभाते च समागत्य राज्ञा कौतूहलादद्भुतम्!
समस्तलोकसंदोहसंयुतेन महाधिया॥
कारागृहं समुद्घाट्य बहिराकारतो द्रुवम्।
आरोग्यं तं समालोक्य सन्मुखं हृष्टचेतसः॥

निकलकर स्वामीने राजासे कहा कि, "सदाशिवकी मूर्तिको अच्छी तरहसे चौवीस जंजीरोंसे बांध दो, नहीं तो इसके टुकड़े २ हो जावेंगे!" जब राजा शिवलिंगको जंजीरोंसे अच्छी तरहसे कसवा चुका, तब स्वामीने फिर कहा कि राजन्, नमस्कार करनेके लिये तू व्यर्थ ही आग्रह कर रहा है। परन्तु ख़ैर, जब तू नमस्कार किये विना मुझे छोड़ता ही नहीं है, तो सावधान हो जा; मेरा नमस्कार देख, ऐसा कहकर स्वामिसमन्तभद्र अपनी प्रभावशालिनी वाणीसे भक्तिगद्गद होकर चौवीस तीथकरोंकी स्तुति करने लगे। यह स्तुति वे उसी समय रचते जाते थे, और पढ़ते जाते थे। जिस समय वे पहले सात तीर्थंकरोंकी स्तुति करके आठवें चन्द्रप्रभ तीर्थंकरकी स्तुतिका—

चन्द्रप्रभं चन्द्रमरीचिगौरं चन्द्रद्वितीयं जगदेककान्तम्।
वन्देऽभिवन्द्यं महतामृषीन्द्रं जिनं जितस्वान्तकषायबन्धम्॥

यह श्लोक पढ़कर—

यस्याङ्गलक्ष्मीपरिवेषभिन्नं

आगेके श्लोकका यह चरण पढ़ने लगे; त्यों ही शिवलिंगके सब जंजीर आप ही आप टूट गये; और पिंडी फटकर उसमेंसे जिनेश्वरकी चतुर्मुख प्रतिमा प्रगट हो गई। यह देखते ही स्वामीने उसे साष्टांग नमस्कार किया और इस अपूर्व आविष्कारसे राजादिक

---

१. वाक्यं यावत्पठेदेवं स योगी निर्भरा महान्।
तावत्तल्लिंगकं शीघ्रं स्फुटितं चेततस्तराम्॥
निर्गता श्रीजिनेन्द्रस्य प्रतिमा सचतुर्मुखा।
संजातस्सर्वतस्तत्र जयकोलाहलो महान्॥

सम्पूर्ण दर्शकोंने जयजयकार किया । इसके पश्चात् जब स्वामी चौबीस तीर्थंकरोंकी स्तुति पूर्ण कर चुके, तब राजाने पूछा कि आप कौन हैं ? आपने यह वेप क्यों धारण किया और यहां आनेका क्या कारण है ? तब स्वामीने यह श्लोक कहकर अपना परिचय दिया—

काञ्च्यां नग्नाटकोऽहं
मलमलिनतनुर्लाम्बुशे पाण्डुपिण्डः ।
पुण्ड्रोण्डे शाक्यभिक्षु—
र्दशपुरनगरे मिष्टभोजी परिव्राट् ॥
वाराणस्यामभूवं
शशधरधवलः पाण्डुराङ्गस्तपस्वी
राजन् यस्यास्ति शक्तिः
स वदतु पुरतो जैननिर्ग्रन्थवादी ॥

भावार्थ—मैं काञ्ची नगरीका नग्न दिगम्बर यति; शरीरमें रोग होनेसे पुंड्र नगरीमें बुद्धाभिक्षुक बनके रहा, फिर दशपुर नगरमें मिष्टान्नभोजी परिव्राजक बनके रहा, फिर इस वाराणसीमें आकर शैव तपस्वी बनके रहा । हे राजन्, मैं जैननिर्ग्रन्थवादी—स्याद्वादी हूं। यहा जिसकी शक्ति वाद करनेकी हो, वह मेरे सम्मुख आकर वाद करे ।

स्वामीका आत्मचरित्र सुनकर राजाने जान लिया कि ये कोई महान् विद्वान् आचार्य हैं । अलौकिक स्तवनके प्रभावसे जब शिव-मूर्ति खंडित हुई थी और चंद्रप्रभकी मूर्ति प्रगट हो गई थी, उसी समय राजाकी स्वामीपर भक्ति हो गई थी और यह उनका वृत्तान्त

सुनकर तो वह उनके शरणमें ही आ गया और श्रावकके व्रत लेकर जैनी हो गया। उसके साथ और भी अनेक लोगोंने जैनधर्म धारण कर लिया।

इसके पश्चात् स्वामीने भस्मव्याधिके कारण धारण किया हुआ कुलिंग वेष छोड़ दिया और प्रायश्चित्तपूर्वक अपनी असली नग्नमुद्रा धारण कर ली। यह कहनेकी अवश्यकता ही नहीं है कि उपर्युक्त घटनाके समय ही उनकी भस्मव्याधि शान्त हो गई। तदनन्तर शिवकोटि राजा स्वामिसमन्तभद्रका शिष्य बन गया। उसने बहुत दिन स्वामीके पास अध्ययन करके विद्या सम्पादन की और अन्तमें वह भी सारा राजपाट छोड़कर दिगम्बर मुनि हो गया। मुनि अवस्थामें उसने भगवतीआराधना नामका प्रसिद्ध ग्रन्थ प्राकृत भाषामें बनाया, जिसमें चार आराधनाओंका विस्तारपूर्वक कथन है।

---

१. भगवती आराधनाकी प्रशस्तिमें यद्यपि उसके कर्ताने अपना नाम शिवार्य प्रगट किया है-शिवकोटि नहीं; तथापि इसमें सन्देह नहीं कि वह शिवकोटिका ही नामान्तर है। क्योंकि जिनसेन स्वामीने आदिपुराणमें भगवती आराधनाके कर्ताका नाम शिवकोटि ही लिखा है (देखो पर्व १ श्लोक ४९)! परन्तु शिवार्यने ग्रन्थान्तमें अथवा और कहीं समन्तभद्रस्वामीका उल्लेख नहीं किया है और आर्य जिननन्दि गणि, सर्वगुप्तगणि, तथा आर्य मित्रनन्दि इन तीन गुरुओंका स्मरण किया है, जिनके कि पास उन्होंने सूत्र और अर्थका अध्ययन किया था। इससे कई विद्वानोंको सन्देह है कि शिवार्य वे शिवकोटि राजा नहीं हैं जो पहले शैव थे। यदि वे ही होते और जैसा कि कथामें कहा है समन्तभद्रस्वामीके शिष्य हो गये होते तो उक्त आचार्योंके साथ समन्तभद्रका भी अवश्य स्मरण करते। इस सन्देहकी निवृत्ति कमसे कम इतनी तो विक्रान्तकौरवीयनाटककी प्रशस्तिसे हो जाती है कि समन्तभद्रके एक शिवकोटि नामके शिष्य अवश्य थे। क्योंकि उक्त ग्रन्थमें शिवकोटि और शिवायनको उनके शिष्य बतलाया है। अब केवल यह बात संशोधनीय है कि उक्त शिवकोटि राजा थे या नहीं और उस समय कोई इस नामका राजा हुआ है या नहीं।

स्वामिसमन्तभद्राचार्यने फिर अनेक देशोंमें विहार किया, अनेक एकान्त वादियोंको परास्त करके उन्हें अनेकान्त पक्षकी महिमा दिखलाई, जहां तहां जैनधर्मकी विजयदुन्दुभी बजाई, विद्वत्तापूर्ण अनेक ग्रन्थोंकी रचना की और अन्तमें कठिन तपस्या करके एक वनमें समाधि लगाये हुए शरीर त्याग कर दिया।

मैसूर राजमें श्रवणवेलगुल नामका जैनियोंका प्रसिद्ध तीर्थ-स्थान है, जिसे लोग जैनवद्री भी कहते हैं। वहांपर बाहुबलि या गोमठस्वामीकी एक अद्वितीय और सुविशाल प्रतिमा है। जिस पर्वत-पर यह प्रतिमा है, उसे विन्ध्यगिरि कहते हैं। विन्ध्यगिरिके एक जिनमन्दिरमें एक विशाल शिलापर "मल्लिषेणप्रशस्ति" नामका बड़ा भारी लेख खुदा हुआ है, जिसकी नकल 'प्रो० राइस' नामके एक अंग्रेजने अपनी इन्स्क्रिप्शन् ऐट् श्रवणबेलगोला नामकी पुस्तकमें प्रकाशित की है। उक्त लेखमें भगवान् समन्तभद्रके विषयमें निम्नलिखित परिचय मिलता है,—

> वन्द्यो भस्मकभस्मसात्कृतिपटुः पद्मावतीदेवता-
> दत्तोदात्तपदः स्वमन्त्रवचनव्याहूतचन्द्रप्रभः।
> आचार्य्यः स समन्तभद्रगणभृद्येनेह काले कलौ
> जैनं वर्त्म समन्तभद्रमभवद्भद्रं समन्तान्मुहुः॥

चूर्णिका—यस्यैवं विद्यावादारम्भसंरम्भविजृम्भिताभिव्यक्तयः सूक्तयः—

> पूर्वं पाटलिपुत्रमध्यनगरे भेरी मया ताडिता
> पश्चान्मालवसिन्धुढक्कविषये काञ्चीपुरे वैदिशे।
> प्राप्तोऽहं करहाटकं बहुभटं विद्योत्कटं सङ्कटम्

वादार्थी विचराम्यहं नरपते शार्दूलविक्रीडितम् ॥
अवटुतटमटति झटिति स्फुटपटुवाचाटधूर्जटेर्जिह्वा
वादिनि समन्तभद्रे स्थितवति सति का कथाऽन्येषाम् ॥

भावार्थ—जिसने भस्मकव्याधिको भस्म कर दी, पद्मावती देवीने जेसे ऊंचा पद दिया, जिसने अपने मंत्रयुक्तस्तोत्रसे चन्द्रप्रभ भगानकी मूर्ति प्रगट की और जिसके द्वारा कलिकालमें सब ओरसे ल्याणका करनेवाला जैनमार्ग बारबार सब देशोंमें विजयशाली आ, वह मुनिसंघका स्वामी समन्तभद्र आचार्य वन्दनीय है।

चू०—जिसके वादके समय प्रगट हुए सुभाषित श्लोक इस प्रकार हैं:—

"पहले मैंने पाटलीपुत्र नगर (पटना) में वादकी भेरी बजाई, फिर लवा, सिन्धुदेश, ढक्क (ढाका—बंगाल) काञ्चीपुर और वैदिश मिलसके आसपासका देश?) में भेरी बजाई। और अब बड़े बड़े द्वान् वीरोंसे भरे हुए इस करहटाक (कराड जिला सतारा) गरको प्राप्त हुआ हूं। इस प्रकार हे राजन्, मैं वाद करनेके लेये सिंहके समान इतस्ततः क्रीड़ा करता फिरता हूं।"

"हे राजन्; जिसके आगे स्पष्ट व चतुराईसे चटपट उत्तर देनेवा- महादेवकी भी जिह्वा शीघ्र ही अटक जाती है, उस समन्तभद्र वा- के उपस्थित होते हुए तेरी सभामें और विद्वानोंकी तो कथा ही या है?"

मल्लिषेण प्रशस्ति एक ऐतिहासिक लेख है, उसमें जो वार्ता लिखी , वह बहुत कुछ विश्वासके योग्य है। आराधनासार कथाकोशमें लिखे ए चरित्रकी प्रधान २ बातोंका उक्त लेखमें उल्लेख मिलता है,

इसलिये आराधनासारकी कथाको भी कोई निरी कपोलकल्पित कहनेका साहस नहीं कर सकता है।

भगवान समन्तभद्रके विषयमें आराधनासार और मल्लिषेणप्रशस्तिमें जो कुछ लिखा है, उससे अधिक परिचय अभीतक कहीं भी प्राप्त नहीं हुआ। इसलिये हमारे पाठकोंको भी इसीसे सन्तोष करना पड़ेगा।

यद्यपि आचार्य महाराजकी जीवनसम्बन्धी वार्ता अन्य किसी ग्रन्थमें नहीं मिलती है तो भी उनकी प्रसिद्ध इतनी अधिक रही है कि प्रायः सभी बड़े २ ग्रन्थकारोंने उनका नाम स्मरण किया है और बड़ी भारी भक्तिसे उनकी स्तुति की है। उस स्तुतिको पढ़कर और उसके बनानेवाले आचार्योंकी योग्यताका विचार करके अनुमान होता है कि शायद भगवत्समन्तभद्रका सिंहासन हमारी आचार्यपरम्परामें सबसे ऊंचा है। देखिए, थोड़ेसे प्रशंसासूचक श्लोक हम यहांपर उद्धृत करते हैं:-

राजाधिराज अमोघवर्षके परमगुरु और प्रख्यात महापुराणके कर्ता श्रीजिनसेनाचार्यने अपने ग्रन्थके आदिमें लिखा है;—

> नमः समन्तभद्राय महते कविवेधसे।
> यद्वचोवज्रपातेन निर्भिन्ना कुमताद्रयाः ॥ ४३ ॥
> कवीनां गमकानां च वादीनां वाग्मिनामपि।
> यशः सामन्तभद्रीयं मूर्ध्नि चूडामणीयते ॥ ४४ ॥

भावार्थ—जिसके वचनरूपी वज्रके आघातसे मिथ्यारूपी पर्वत चूर चूर हो गये, उस कविश्रेष्ठ समन्तभद्रको नमस्कार हो। कविता करनेवाले कवि, कविकी वृत्तिका मर्म शोधनेवाले गमक, वाद करके विजयी होने वाले वादी और मनोरंजक व्याख्यान देनेवाले वाग्मि

इन सबके मस्तकोंको समन्तभद्रस्वामीका मत मुकुटके समान शोभित करता है। तात्पर्य यह है कि समन्तभद्रस्वामी काव्य, न्याय, आदि सब ही विषयोंके अगाध पंडित थे।

सुप्रसिद्ध गद्यचिन्तामणि नामक गद्यकाव्यके निर्माता महाकवि वादीभसिंहने लिखा है;—

सरस्वतीस्वैरविहारभूमयः समन्तभद्रप्रमुखामुनीश्वराः।
जयन्तु वाग्वज्रनिपातपाटितप्रतीपराद्धान्तमहीध्रकोटयः॥

अर्थात्—सरस्वती देवीके स्वच्छन्द विहार करनेकी भूमिरूप श्रीसमन्तभद्रादि मुनिराज जयवन्त होवें कि जिनके वचनरूपी वज्रपातसे ...ादीरूप करोड़ों पर्वत भस्म हो गये।

देवागमवृत्तिके रचनेवाले श्रीवसुनन्दिसिद्धान्तचक्रवर्तीने कहा है:—

लक्ष्मीभृत्परमं निरुक्तनिरतं निर्वाणसौख्यप्रदम्
कुज्ञानातपवारणाय विधृतं छत्रं यथा भासुरम्।
सज्ज्ञानैर्नवयुक्तिमौक्तिकफलैः संशोभमानं परम्
वन्दे तद्धतकालदोषममलं सामन्तभद्रं मतम्॥

भावार्थ—शोभायुक्त, उत्कृष्ट, निरुक्तनिरत, मोक्षसुख देनेवाले, कुज्ञानरूपी आतापको निवारण करनेके लिये विद्वानोंके द्वारा धारण किये हुए, नवीन युक्तिरूपी मुक्ताफलोंसे शोभित होनेवाले, कलिकालके पापोंको नाश करनेवाले और निर्मल, इस प्रकार प्रकाशमान छत्रकी उपमाको धारण करनेवाले भगवान समन्तभद्रके मतको मैं नमस्कार करता हूं।

ज्ञानार्णवके कर्त्ता श्रीशुभचन्द्राचार्यने अपनी लघुता प्रगट करते हुए कहा है,—

समन्तभद्रादि कवीन्द्रभास्वतां
स्फुरन्ति यत्रामलसूक्तिरश्मयः ।
व्रजन्ति खद्योतवदेव हास्यतां
न तत्र किं ज्ञानलवोद्धता जनाः ॥

अर्थात्—जहां समन्तभद्रादि कवीन्द्र सूर्योंकी निर्मल सूक्तिरूपी किरणें प्रकाशमान हैं, वहां ज्ञानरूपी लवसे उद्धत हुए पुरुष जुगनू (पटवीजने) के समान क्या हास्यको प्राप्त नहीं होते हैं अवश्य होते हैं ।

चन्द्रप्रभचरितमहाकाव्यके कर्त्ता महाकवि श्रीवीरनन्दिने कहा है:

गुणान्विता निर्मलवृत्तमौक्तिका
नरोत्तमैः कण्ठविभूषणीकृता ।
न हारयष्टि परमेव दुर्लभा
समन्तभद्रादिभवा च भारती ॥

भावार्थ—गुण अर्थात् सूतसे गूंथी हुई (पक्षमें गुणयुक्त उज्वल गोल मोतियोंवाली (निर्मल व्रतरूपी मोतियोंवाली) और श्रेष्ठ पुरुषोंके कंठको शोभित करनेवाली हारकी लड़ी परम दुर्लभ नहीं किन्तु समन्तभद्रादि आचार्योंके मुखसे उत्पन्न हुई भारती—सरस्वती ही दुर्लभ है ।

जैसा कि ऊपरके श्लोकोंमें कहा है भगवत्समन्तभद्र काव्य, न्यायादि सभी विद्याओंमें पारंगत होंगे । यही कारण है कि काव्य

व्याकरण, न्याय, सिद्धान्त आदि सब ही विषयके विद्वानोंने उनकी स्तुति की है।

स्वामी समन्तभद्रने जितने ग्रन्थोंकी रचना की है, उनमें सबसे प्रसिद्ध गन्धहस्तिमहाभाष्य है। परन्तु जैनसमाजका दुर्भाग्य है कि अब उसे उक्त ग्रन्थके दर्शन दुर्लभ हो गये हैं। दानवीर शेठ माणिकचन्दजीने कई वर्ष पहले प्रसिद्ध किया था कि किसी भंडारमें इस ग्रन्थका पता लगे और कोई भाई हमको दर्शन करा दे, तो हम ५००) पारितोषिक देंगे! परन्तु अफसोस है कि आजतक कहीं भी इसका पता न चला। सुनते हैं, सौ वर्ष पहले जयपुरके किसी भट्टारकके भंडारमें यह ग्रन्थ मौजूद था, परन्तु अब कहां गया, कहा नहीं जा सकता। क्या आश्चर्य है, जो यह भी हमारे अन्यान्य सैकड़ों ग्रन्थोंके समान दीमक और चूहोंके उदरमें समा गया हो! भगवान उमास्वामीके बनाए हुए तत्वार्थसूत्रकी सबसे बड़ी टीका यही ग्रन्थ है। इसकी श्लोकसंख्या चौरासी हजार है। यह ग्रन्थ कितने महत्त्वका और अभूतपूर्व होगा, इसका अनुमान पाठक इसी बातसे कर लेंगे कि इसके प्रारंभमें जो ११४ श्लोकोंका मंगलाचरण है जिसे कि देवागमस्तोत्र या आप्तमीमांसा कहते हैं, उसपर बड़े २ भारी कई टीकाग्रन्थ बन चुके हैं।

इसकी पहली टीका अष्टशती नामकी है, जो ८००श्लोकोंमें है और जिसके कर्त्ता वादिगजकेसरी अकलंकभट्ट हैं। दूसरी टीका अष्टसहस्री है, जिसे विद्यानंदिस्वामीने अष्टशतीके ऊपर बनाई है। एक टीका श्रीवसुनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्तिकी है, जिसे देवागमवृत्ति कहते हैं।

इनके सिवाय और भी कई छोटी बड़ी टीकाएं सुनी जाती हैं । अब विद्वान् पाठक सोचें कि, जिसका मंगलाचरण ही इतना गौरवयुक्त है, वह सारा ग्रन्थ कैसा होगा ? सच पूछो, तो इस ग्रन्थके नष्ट होनेसे जैनधर्मका सर्वस्व खो गया है ।

महाभाष्यके सिवाय **रत्नकरंडश्रावकाचार, युक्त्यनुशासन, जिनशतकालंकार, विजयधवलटीका, तत्त्वानुशासन,** ये पांच ग्रन्थ और भी समन्तभद्रस्वामीके बनाये हुए प्रसिद्ध हैं । यद्यपि इनमेंसे रत्नकरंड और युक्त्यनुशासनके सिवाय शेष ग्रन्थोंका प्रचार नहीं है और न सर्वत्र पाये जाते हैं, परन्तु कई प्राचीन भंडारोंमें इनका अस्तित्व सुना जाता है । न्याय और सिद्धान्तके सिवाय जब आचार्य महाराजकी योग्यता काव्यादि विषयोंमें भी थी, तब कहा जा सकता है कि उन्होंने काव्य व्याकरणादि विषयोंके ग्रन्थ भी बनाये होंगे । कोई व्याकरण ग्रन्थ तो उनका जरूर ही होगा । क्योंकि शाकटायन व्याकरणमें उनका मत कई जगह दिया गया है । काव्योंमें केवल एक जिनशतकालंकार हाल ही छपकर प्रकाशित हुआ है । खेद है कि हम लोगोंके अभाग्यसे उनके और किसी भी काव्य व्याकरणादि ग्रन्थका पता नहीं चलता है । *

* यह लेख श्रीयुत तात्यानेमिनाथ पांगलके मराठी लेखका संशोधित और परिवर्द्धित अनुवाद है ।

